

# सातत्य की अवधारणा

स्वीए आनंद की तलाश में



जीन लीडलॉफ

# सातत्य की अवधारणा

स्वीए आनंद की तलाश में

जीन लीडलॉफ

भाषांतर - पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा

बनियन ट्री

## सातत्य की अवधारणा

खोए आनंद की तलाश में

जीन लिडलॉफ

प्रथम हिन्दी संस्करण 2012

### बनियन ट्री

1-बी, धेनु मार्केट, दूसरा माला

इन्दौर - 452003, इण्डिया

टेलीफोन : 91-731-2531488,2532243

मोबाइल : 91- 9425904428

ई-मेल : [banyantreebookstore@gmail.com](mailto:banyantreebookstore@gmail.com)

वेबसाइट : [www.banyantreebookstore.com](http://www.banyantreebookstore.com)

Originally Published in English as

THE CONTINUUM CONCEPT

In Search of Lost Happiness

Jean Liedloff

मूल संस्करण कॉपीराइट 1975 जीन लीडलॉफ

संशोधित संस्करण कॉपीराइट 1977 जीन लीडलॉफ,

हिन्दी संस्करण कॉपीराइट 2012 बनियन ट्री

“भाषांतर एवं प्रकाशन अनुमति पूर्वक।” सर्वाधिकार सुरक्षित।

ISBN: 978-81-920957-6-9

टाइपसेटिंग : शुभम पाटिल

आवरण डिजाइन : शुभम पाटिल/इशिता कोठारी

भारत में प्रकाशित एवं मुद्रित

SATATYA KI AVDHARANA

# सभर्षण

एडम यर्मोलिंस्की, जोनाथन मिलर, जॉन होर्डर, जोनास साक, तारज़ी  
वित्ताची और डेविड हर्न, जिन्होंने इस विचार को समझकर खूद इसे आगे  
बढ़ाने की ज़िम्मेदारी ली, जैसे कि मैंने।  
और मौस और जेनेट को प्यार सहित।



# विषय-सूची

## भारतीय संदर्भ में प्रस्तावना

### परिचय

नए संस्करण के लिए कुछ प्रतिवेदन तथा विचार

### एक

#### मेरे विचारों में क्रान्तिकारी बदलाव कैसे आया

देखा पहले, समझा बाद में, तब पलट कर अपने अवलोकनों की पुष्टि की और सातत्य की अवधारणा तक पहुँची।

### दो

#### सातत्य की अवधारणा

जीवन से जिसकी अपेक्षा रखने के लिए मानव का क्रमविकास हुआ है / मानव की अंतर्निहित प्रवृत्तियाँ / व्यक्ति तथा संस्कृति में सातत्य किस प्रकार काम करता है !

### तीन

#### जीवन का प्रारंभ

प्राकृतिक जन्म तथा सदमे के साथ (ट्रॉमेटिक) जन्म / शिशु की अपेक्षाएँ तथा प्रवृत्तियाँ / गोदी में उठाने का चरण तथा व्यक्ति के शेष जीवन पर उसका प्रभाव / सातत्य तथा उसके बिना शिशुओं तथा बालकों का अनुभव।

चार

## बढ़ना

एक सामाजिक प्राणी होने का अर्थ होता क्या है / आत्मरक्षा का स्वाभाविक गुण, स्वावलंबन का विकास, तथा बालक की स्वयं के प्रति जिम्मेदारी का सम्मान करने का महत्व / स्वाभाविक सामाजिकता की पूर्व-मान्यता तथा उसका निहितार्थ / बालक स्वयं को कैसे शिक्षित करता है / उसे अपने से बड़ों से किस प्रकार सहायता की ज़रूरत होती है।

पाँच

## अत्यावश्यक अनुभवों से वंचित होना

शैशव में जिन अनुभवों से चूके हों जीवन के हर कोने में उनकी अंधी तलाश / मादक द्रव्यों की लत वाले व्यक्ति का रहस्य / मानव पतन संबंधी मिथक / अनुकंपा की स्थिति से दो कदम दूर : बौद्धिक चयन कर पाने की मानव की विकसित क्षमता तथा संस्कारित मानव का सातत्य से अवपतन / चिंतन, ध्यान, कर्मकाण्ड तथा विचार मिटा के अन्य उपायों से राहत।

छह

## समाज

सातत्य की अवधारणा से मेल खाने वाली संस्कृतियाँ तथा उससे टकराव में आने वाली संस्कृतियाँ / अनुपालना, विश्वसनीयता, न ऊबने का अधिकार / आनंद का भला हुआ क्या ?

सात

## सातत्य के सिद्धान्तों को पुनः लागू करना

यौन तथा “स्नेह” : शारीरिक संपर्क की दो आवश्यकताओं के बीच अंतर करना / आवश्यकता बनी रहने के साथ ही उसकी आपूर्ति की संभावना भी बनी रहती है / सातत्य के नज़रिए से हमारी ज़रूरतों को समझना तथा उनको परिभाषित करना / हमारी वर्तमान जीवन शैली में मौजूद अवरोध / शिशुओं के अधिकार / सातत्य को पुनः स्थापित करने के उपलब्ध अभिगम / इन सिद्धान्तों को शोध में लागू करना।

## भारतीय संदर्भ में प्रस्तावना

कुछ अलग तरह से बच्चों की परवरिश का पहला पाठ मुझे “साधना फॉरेस्ट”, ओरोविल में पढ़ने (सीखने) को मिला था। एक दिन दौपहर मैं और ओशोर, अविराम-योरित की तीन वर्षीय बेटी के साथ बैठा *संक्चुरी कब* के पन्ने पलट रहा था तभी एक तस्वीर की तरफ उंगली उठाकर ओशोर बोली, “ओ दिस इज केट” (“ये तो बिल्ली है”)। “नो दिस इज टाइगर” (“नहीं ये तो बाघ है”), तत्काल मैंने कहा। तभी पास ही बैठी योरित ने मुझे टोका और कहा “एज शी हेज ओनली सीन द केट, शी इज राइट ...” (“क्योंकि उसने अभी तक सिर्फ बिल्ली को ही देखा है, वो बिल्कूल ठीक है ...”), मतलब कि जब तक वो न पुछे, उसे कुछ मत बताओ। योरित का यह कहना मेरे लिये बिल्कुल ही अलग तरह का अनुभव था जबकि मैं स्वयं उस वक्त दो बच्चों का पिता था। शाम को इस विषय पर मेरी काफी विस्तृत चर्चा अविराम से हुई।

अगले ही दिन जब संध्या को हम सुर्यास्त देख रहे थे तभी ओशोर दौड़ती हुई आई और मेरे पेर से उलझकर गिर पड़ी और रोने लगी। जब मैं उसे चुप कराने लगा तभी योरित कहने लगी नहीं-नहीं, अगर वो रो रही है तो उसे रोने दो, उसे वाकई में दर्द हो रहा होगा और वह सिर्फ सही कारण से ही रोती है। मैं फिर से अवाक रह गया। मैं जीवन में पहली बार किसी ऐसी माँ से मिल रहा था जिसे मालुम है कि उसका बच्चा सही कारण से रो रहा है। वहाँ अपने आठ दिनों के प्रवास के दौरान मैंने ओशोर को अपने हाथों से खाते, पूरे दिन खेलते और हर उम्र के लोगों से बिना किसी हिचकिचाहट के मिलते और



खेलते देखा। इस दौरान अविрам द्वारा बताई गई पुस्तकों में से एक जिन लिडलॉफ की “द कन्टीन्यूअम कांसेप्ट” भी थी।

पहले, करीब एक वर्ष पूर्व अविрам और योरित से डियर पार्क, हिमाचल प्रदेश में लर्निंग सोसायटीज (अन) कान्फरेंस और फिर उनके इन्दौर प्रवास के दौरान मुलाकात हुई। ओशेर अब ग्यारह वर्ष की हो गई है तथा उसकी एक तीन वर्षीय छोटी बहन भी है, शैलेव। यहाँ भी मैंने दोनों को ही हमेशा शांत, सहज और खुशमिज़ाज पाया और रोते या किसी तरह की जिद करते नहीं देखा, और दोनों को हर उम्र के लोगों के साथ घुलते-मिलते देखा। उनके इन्दौर में तीन दिनों के प्रवास के दौरान मैं और शैलेव किसी पुराने दोस्त की तरह रहे। दोनों ने ही “स्कूल” नाम के “जीव” को आज तक नहीं देखा है और ओशेर अभी तक पढ़ना और लिखना भी ठीक से नहीं जानती है — हमारी तथाकथित सभ्य मानसिकता में वह अनपढ़ और गंवार भी कहलाई जा सकती है।

चूँकि मैं भी अब “द कन्टीन्यूअम कांसेप्ट” पुस्तक पढ़ चुका हूँ, इसलिये मुझे यह कहने में बिल्कुल भी संकोच नहीं है कि दोनों ही बच्चे “सातत्य” की कसौटी पर एकदम खरे हैं। स्वयं अविрам एवं योरित का “द कन्टीन्यूअम कांसेप्ट” के बारे में कहना है:

जब हमने पहली बार “द कन्टीन्यूअम कांसेप्ट” पुस्तक पढ़ी थी तब हमारा पहला बच्चा अभी जन्मा नहीं था, और यह शायद अच्छा ही हुआ। अब हम एक अलग तरह के पालकत्व का अनुभव करने के लिए तैयार थे। हमने जब से यह किताब पढ़ी है, हमारी खुद की अपने आप से समझ और दूसरों के साथ बरताव के तरीकों में आमूल-चूल परिवर्तन आया है।

किताब पढ़े हुए हमें बारह वर्ष बित गए हैं और हमारी एक बेटी ग्यारह वर्ष की है। अपने सातत्य की समझ के साथ बच्ची का पालन-पोषण हमारे लिये एक बहुत ही सुखद और परिपूर्ण अनुभव रहा है। हमें हमारे कई पुराने तौर-तरीके भुलाने पड़े और नए अपनाने पड़े। “द कन्टीन्यूअम कांसेप्ट” हमारे अंदर बिना शर्त प्यार की भावना प्रस्फुटित करने में भी मददगार रही है।

यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात है कि हम अपने सहजबोध से इतना दूर हो गए हैं कि अब हम इंसानों को इंसान जैसा व्यवहार करना भी एक पुस्तक से सीखना पड़ रहा है। पर अगर कोई पुस्तक है जो ऐसा कर सकती है तो निश्चित

ही वह “द कन्टीन्यूअम कांसेप्ट” है।

हम सभी पुस्तक पढ़ने वालों को एक प्यार भरा और हमेशा ही याद रखने लायक पालकत्व की कामना करते हैं।

प्यार सहित,  
योरित और अविराम,  
साधना फॉरिस्ट,  
ओरोविल, तामिलनाडु

ऐसे ही एक पालक हरि और शिल्पा ने भी अपनी बेटी माया की परवरिश अपने अंदर की आवाज़ के साथ और सातत्य की रोशनी में की है। जब मैंने उन्हें पुस्तक के लिए विस्तार से अपने अनुभव बताने को कहा तो उन्होंने इसे सहर्ष स्वीकार करते हुए बताया:

पुस्तक ने शिशु के लालन-पालन को लेकर हमारे प्रत्येक पूर्वविचारित मत को चुनौती दी है। कई सारी बातें जो मेरे और मेरे पति हरि के मन में पहले से ही बैठी हुई थी: जैसे शिशु को अस्पताल में जन्म देना, टीका लगाना, पालने और बच्चा गाड़ी का उपयोग, छः माह पश्चात कुछ ठोस आहार देना, बारह मास का होने पर माँ का दुध छुड़वाना, अनुशासन, प्ले स्कूल, नर्सरी स्कूल — हमने अपने आपको हमारी सोच के प्रत्येक पहलु पर प्रश्न करते पाया। न सिर्फ पुस्तक द्वारा दर्शाये गये मापदंडों के आधार पर इसका मुल्यांकन किया वरन साधारण सच के विशाल ढाँचे के इर्दगिर्द भी जाँचा-परखा। क्या ये अभ्यास, मत, रीतिरिवाज़ शिशु की प्राकृतिक जैविक जरूरतों का भी सम्मान और पोषण करते हैं? अगर ऐसा है तो ये हमारे जीवन के भी अंग बनते गये, यदि नहीं और ये सिर्फ हमारी सुविधा के अनुसार हमारे सांस्कृतिक मापदंडों द्वारा हम पर थोपे गये थे तो हमने इन्हें एक सिरे से खारिज़ कर दिया।

अब जबकि हमारे सारे निर्णय इसी सातत्य की रोशनी के इर्दगिर्द लिये जा रहे हैं, हमारी जिन्दगी सरल होने के साथ-साथ जटिल भी होती गई। अस्पताल में शिशु को जन्म न देने का मतलब था अपने ही शहर में एक दाई को ढुँढना। हमें एक बहुत ही अच्छी दाई मिल तो गई लेकिन हमारे शहर से दूर, पास ही के

राज्य गोआ में। इसलिये हमें अपनी बेटी माया को जन्म देने के लिये दो माह के लिये गोआ में ही रहना पड़ा। टीके लगाने या न लगाने के विवाद को खत्म करने के पहले हमें ढेर सारे कागजों, इन्टरनेट और अन्य सामग्रियों को टटोलना पड़ा, उन्हें पढ़ने की ज़हमत उठानी पड़ी तथा साथ ही शिशु रोग विशेषज्ञों और होमियोपेथ से आक्रामक मुठभेड़े करनी पड़ी। अन्त में हमने किसी भी प्रकार का टीकाकरण न करने का निश्चय किया। (यद्यपि हमने उसे पोलियो की दवा पिलाई जब वह 18 माह की थी। चूंकि हमारा एक पारिवारिक मित्र पोलियो से ग्रसित है — रोग से इतनी नजदीकी ने हमारे इस निर्णय में काफी बड़ा भाग अदा किया।)

कभी-कभी हमें उपहास का पात्र भी बनना पड़ता था। लिडलॉफ के शिशु को गोदी में उठाये रखने के विचार से हम भी सहमत थे। इसलिये अपनी बच्ची को हम हर समय अपने साथ ही रखते थे, चाहे वो सो रही हो, जग रही हो और जो भी आगन्तुक हमारे यहाँ पर आता उसे हमारा यह व्यवहार बड़ा हास्यास्पद और बेतुका लगता। मुझे एक हाथ से बांये कंधे पर माया को उठाये हुए, और दुसरे से खाना खाते हुए और हिलते डुलते बातचीत करते देख वे हैरान-परेशान हो जाते। हमें हमेशा ही यह चेतावनी दी जाती रही कि “तुम बच्ची को बिगाड़ रहे हो” या फिर “ध्यान रहे, एक दिन तुम्हे पछताना पड़ेगा।”

परंतु इस अर्थ ने हमें बेहद मज़बुती प्रदान की। जब भी उसे बिस्तर पर लिटाया गया वह सोने के दौरान काफी तनावपूर्ण रही और उसकी लगातार गुराहटों और कराहटों ने हमें कई बार अधबीच में खाना छोड़ने को बाध्य किया और कई बार स्नान, रसोई का कामकाज छोड़ कर अनमनेपन से उसकी पीठ थपथपाने जाना पड़ा ताकि वो फिर से आराम से सो जावे। इसके विपरित जब भी उसे उठाकर शरीर की उष्मा के साथ रखा गया वह हमेशा ही देर तक और चिर निद्रा में सोई और हम बड़ी शांति से हमारे रोज़मर्रा के काम निपटा पाते अर्थात् एक हाथ से ही। (हमें ऐसा लगता है कि अगर हमने पीछे की और एक कपड़े का झुला लटका कर उसे रखा होता तो हमें ज्यादा सहूलियत रहती। इस स्थिति में हम हमारे दोनों हाथों को खाली रखते हुए आसानी से काम कर सकते थे। ऐसा न कर पाने का कारण यह था कि हम कपड़े के पोतड़ों का उपयोग कर रहे थे और शुरूआती तीन माह में हमारी बच्ची ने प्रतिदिन कम से कम पन्द्रह बार पोतड़ा गंदा किया था।)

इस गोदी में उठाये जाने के अनुभव और जब भी उसे ज़रूरत महसूस हो स्तनपान कराने ने हमें एक बेहद संतुष्ट और खुशमिज़ाज बच्ची दी और वो ही आगन्तुक जो हमें लगातार चैतावनियाँ देते थे, कहने लगे कि ऐसी बच्ची को देखना सच में दुर्लभ है जो रोती नहीं है। यद्यपि ऐसे लोग बहुत सारे नहीं थे।

सबसे महत्वपूर्ण पाठ जो हमने इस पुस्तक से पढ़ा वो था परिवार में रहते हुए अपनी ही बच्ची को एक अलग “जीव” के रूप में देख पाना जिसकी अपनी ज़रूरतें और अपनी सोच हो। सिर्फ *पराश्रित* और *निष्क्रिय* बच्ची नहीं जिस पर कि हम अपनी इच्छाओं को लादते रहें, उसके दोषों को ठीक करते रहें और उसे जितना जल्दी हो सके “स्वतंत्र” बना दें ताकि वह हमारे रोजमर्रा के कामों में कम से कम व्यवधान उत्पन्न करे। मैं और मेरे पति हरि इस पहलु को लेकर हमेशा ही सचेत रहे। कई बार ऐसा मोका भी आया जब हमे प्यार से एक दूसरे को इस बारे में स्मरण दिलाना पड़ा। हमारे घर में सिर्फ एक ही नियम था — सिर्फ उसी दशा में मना करना जो हमें या बच्ची को कोई नुकसान पहुँचाए। अगर इस आधार पर जाँचे तो कई सारी चीजें जो हमारे शहरी समुदायों में वर्जित हैं वो हमारे घर पर एक दम ठीक हैं। दीवार पर चित्रकारी, भोजन के साथ खेलना, ज़मीन पर लिखना, आटे से स्नान करना, सुबह तीन बजे नहाना, बारिश में भिगना, चार साल तक स्तनपान, वयस्कों को उनके नाम से बुलाना, नंगे ही घुमना, नाश्ते की जगह आइसक्रिम खाना ... सभी कुछ स्वीकार्य हैं। किन्तु, माया की अपनी सहज बुद्धि पर विश्वास की योग्यता अपने आप में कई सुन्दर रूपों में प्रकट हुई है। हमने कभी भी उसके खाने-पिने के नाज़ नखरे नहीं महसूस किये जो कि ज्यादातर अभिभावक रोज महसूस करते हैं। माया ठीक से खाती है और उतना ही जितनी उसे ज़रूरत हो। यह बात चाकलेट के साथ भी उतनी ही सच है, जब भी किसी मेहमान द्वारा उसे चाकलेट दी जाती है वो उतना ही खाती है जितनी उसकी ईच्छा हो और बाकि वो फ्रिज में रख देती है। चार साल की उम्र में वो चाकु का उपयोग करने में पूर्णतया सक्षम है — काटना, छिलना, किसना आदि सहजता और कुशलता से कर सकती है। उसे मालुम है कि अपने मस्तिष्क का कब और कैसे उपयोग करना है और यह भी कि समस्या पर कैसे चिंतन करना और फिर उससे निपटना। वह अभी से अपने मन में इस बात पर दृढ़ है कि कम से कम 83 वर्ष तक तो वह स्कूल नहीं जाना चाहेगी।

परन्तु इस 'विशिष्ट' तरीके से बच्ची का पालन-पोषण करना, एक वयस्क के रूप में हमारे लिये काफ़ी मुश्किल भरा भी रहा। यह सुनिश्चित करने में कि जितना संभव हो सके हमारी बच्ची प्राकृतिक रूप से और अपनी सहज बुद्धि के साथ ही बढ़े हमें एक परिवार के रूप में अलग और थोड़ा सुरक्षित भी रहना पड़ा। हमें हमेशा यह ध्यान रखना पड़ा कि कोई वयस्क उसके साथ व्यर्थ या बेमतलब का वार्तालाप न कर रहे हों। "तुम्हें कौन ज्यादा प्यार करता है — तुम्हारे पापा या मम्मी", "क्या तुम अच्छी लड़की हो या खराब लड़की", "इन कपड़ों में तो तुम वाकई बड़ी सुंदर लग रही हो", "देखो माया ने तो कितना अच्छा चित्र बनाया है" या "तुम्हारी चित्रकारी तो बड़ी भयानक है, तुम कब माया जैसा चित्र बनाना सिखोगी।"

हमारा ऐसा मानना है कि "सातत्य की अवधारणा" तब बेहतर काम करती है जब एक पुरा का पुरा समुदाय ही इस अवधारणा पर जीवन यापन कर रहा हो। जहाँ पर वयस्क अपना-अपना काम कर सकें और भिन्न-भिन्न आयु के बच्चे एक साथ खेलते हुए आपस में एक दुसरे का ध्यान भी रखें। परन्तु वास्तविकता यह है कि हम तल्लेदार भवनों में रहते हैं, एक दूसरे से कटे हुए एकल परिवारों में, और उन परिवारों से घिरे हुए जिनके बच्चों के पालन पोषण के सम्बन्ध में भिन्न विचार हैं। इस तरह की परिस्थितियों में पुस्तक की आत्मा के हिसाब से रहने के लिये रोज़मर्रा की चुनौतियों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। हमने निश्चित ही ऐसे बच्चे के पालन-पोषण का मज़ा लिया है जो रचनात्मक है, सामाजिक है, चंचल है, मिलनसार है और साथ ही संवेदनशील और आत्मविश्वासी भी, परन्तु साथ ही हम इस तथ्य से भी पुरी तरह से वाकिब हैं कि यह यात्रा और भी ज्यादा सुखद होती यदि हम समान विचारों वाले परिवारों के साथ रह रहे होते। तब हमें उसे अशिष्ट आचरण वाले बच्चों, आक्रामक हमउम्रों और असंवेदनशील वयस्कों से सुरक्षित रखने की ज़हमत नहीं उठानी पड़ती। हम अपना ज्यादा समय मिलने जुलने, आनंद से बिताने और ज्यादा रचनात्मक रुचियों में बिताने और हमें इस बात का भी भरोसा रहता कि बच्चा अच्छे लोगों की सोहबत में खेल-कूद रहा है और हमें उसकी रखवाली भी नहीं करनी पड़ती।

हमें यह जानकर वाकई खुशी हुई है कि इस किताब को हिन्दी और कई अन्य भारतीय भाषाओं में प्रकाशित किया जा रहा है जो की कई अन्य माता-पिता तक भी पहुँच पाएगी। “सातत्य की अवधारणा” एक ऐसी पुस्तक है जो लोगों की ज़िन्दगी को बदल सकती है और वाकई बदल रही है। इसे जरूर पढ़ना चाहिये।

शिल्पा और हरि

\* \* \*

निश्चित ही हमारे पास आज उदाहरण हैं – ओशेर और शैलेव के रूप में, माया के रूप में, और इसके अतिरिक्त और भी कई उदाहरण हमारे प्राचीन और ग्रामीण समाज में बिखरे पड़े हैं। लेकिन जिस तरह से हम हमारे बच्चों को क्रियाशील समुदाय से अलग करके बड़ा कर रहे हैं जहाँ उन्हें सिर्फ अपनी ही उम्र के बच्चों के साथ समय व्यतीत करना है, क्या हम उनके पूर्ण मानव बनने की आशा रख सकते हैं? लेकिन यदि हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे एक पूर्ण मानव बने तो यह किताब एक साधन हो सकती है।

जो जोत जिन लिडलॉफ ने जलाई थी और जिसके वाहक योरित-अविराम एवं शिल्पा-हरि बने हैं उसे और आगे बढ़ाने का जिम्मा *बनियन ट्री* ने लिया है। यह पुस्तक शीघ्र ही मराठी, गुजराती और अन्य भारतीय भाषाओं में उपलब्ध कराई जाएगी। हमें पाठकों के सहयोग की अपेक्षा रहेगी।

दिनेश कोठारी



# परिचय

## नए संस्करण के लिए कुछ प्रतिवेदन तथा विचार

### पालकों के विषय पर

1975 में इस पुस्तक के प्रकाशन से तीन माह पूर्व मेरी एक मित्र ने पुस्तक की पाण्डुलिपि चाही ताकि वह उसे एक ऐसे दंपति को दे सके, जो अपने पहले बच्चे के जन्म की प्रतीक्षा कर रहे थे। पति-पत्नि दोनों ने पाण्डुलिपि तेज़ी से पढ़ी। मिलिसेंट से मेरी भेंट तब हुई जब वह सैथ के साथ दोपहरी के खाने पर आई। सैथ उस वक्त तीन माह का हो चुका था। उसने मुझसे कहा कि उसे तथा उसके पति मार्क को, जो एक चिकित्सक हैं, विश्वास था कि मेरे विचार सार्थक हैं, क्योंकि वे उनकी निजी भावनाओं के भी अनुरूप हैं। उसकी इच्छा थी कि अन्य माता-पिता भी इस पुस्तक को पढ़ें, परन्तु मिलिसेंट को डर था कि कहीं वे इस विचार से हतोत्साहित ही न हो जाएँ कि उन्हें अपने शिशु को महीनों तक लगातार गोद उठाए रखना पड़ेगा।

“मुझे बात समझ आ रही थी”, उसने कहा, “परन्तु मैं यह भी जानती थी कि मैं दिन-रात दस-पंद्रह पाउण्ड के आलू के बोरे समान बोझ को ढो नहीं सकूंगी। मुझे डर है कि आप लोगों को पूरी तरह बिदका देगी। आप सिर्फ इतना भर क्यों नहीं सुझाती कि “खरीदे गए सामान को बच्चा-गाड़ी में रखो और बच्चे को गोद में, जैसे मैंने आपको रेडियो पर कहते सुना था ? ज़्यादातर लोग इतना करने को तैयार होंगे और घर लौटने पर भी उसको बाँहों में उठाए रखना चाहेंगे। मैंने सैथ को गोद से नीचे इसलिए कभी नहीं



रखा क्योंकि मुझे ऐसा कभी महसूस ही नहीं हुआ।”

“बात यही तो थी”, मैंने कहा। “जब बच्चा आ जाता है और उसके प्रति आपकी भावनाएँ नकारी नहीं जाती, तभी तो यह कारगर होता है; इसलिए नहीं कि किसी ने कहा हो कि आपको उसे गोद उठाए रखना चाहिए। न ही यह संभावना है कि आप यह चाहेंगे कि आप एक शिशु की इस हद तक सेवा करें जब तक आप उससे मिल न लें, या उससे प्रेम में न पड़ जाएँ।”

“मैंने अपने नहाने की समस्या का समाधान सैथ को भी अपने साथ ही नहलाने ले से किया”, मिलिसेंट ने बात जारी रखते हुए कहा। “और अगर मार्क भी समय पर लौट आता तो वह भी साथ कूदने से खुद को रोक न पाता। उसे भी सैथ के साथ होना उतना ही अच्छा लगता है जितना मुझे।”

“सौभाग्य से मैं अपने एक दोस्त के साथ छपाई का धंधा करती हूँ, सो मुझे अपना काम छोड़ना नहीं पड़ा। मैं खड़े-खड़े काम करती हूँ, और अब तक मुझे सैथ को पीठ या कमर पर लटकाए रखने की आदत पड़ गई है। उसे भूख लगे तो मैं उसे सरका कर आगे को ले आती हूँ। उसे रोना नहीं पड़ता वह बस घुरघुराता है और हाथ बढ़ाता है। रात को भी उसे सिर्फ इधर-उधर मुँह मारना होता है और मैं समझ जाती हूँ कि वह भूखा है। मैं अपना स्तन उसके मुँह से लगा देती हूँ, और मुझे पूरी तरह जगना भी नहीं पड़ता।”

“मैंने सैथ को नीचे रखे बिना ही सारे घरेलू काम और बागवानी करने के तरीके ढूँढ लिए हैं। मैं उसे सिर्फ तब नीचे रखती हूँ, जब मैं बिस्तर ठीक कर रही होती हूँ। मैं उसे चद्दरों या कंबलों के बीच उछालती हूँ, पर यह उसे बहुत पसंद आता है। भूतल से कोयला लाने के पहले मैं मार्क का इंतजार करती हूँ। सैथ और मैं सिर्फ उस समय अलग होते हैं जब मैं घुड़सवारी करने जाती हूँ। तब कोई सहेली उसे थामती है। पर मैं हमेशा सवारी कर लेने के बाद उसे वापस गोद में लेने को आतुर होती हूँ, उसे साथ रखना मुझे सही लगता है।”

सैथ खाने के दौरान आराम से व शांत रहा और पुस्तक में वर्णित येक्वुआना शिशुओं की तरह उसे गोदी में उठाने में कोई परेशानी नहीं हुई।

यह बात समझ में आती है कि पाश्चात्य बच्चों का दफ्तरों, दुकानों, कार्य-कक्षों,

यहाँ तक कि रात्रि भोजों तक में, स्वागत नहीं किया जाता। वे अमूमन चीखते और लतियाते हैं, अपने हाथ लहराते हैं, शरीर को अकड़ा लेते हैं, सो उन्हें पकड़ने में दोनों हाथों की और उन्हें नियंत्रित रखने के लिए काफी ध्यान की ज़रूरत पड़ती है। लगता यह है कि वे अप्रयुक्त ऊर्जा से भरे होते हैं। क्योंकि उन्होंने काफी समय किसी ऐसे सक्रिय व्यक्ति के संपर्क में नहीं बिताया होता जो स्वाभाविक रूप से ऊर्जा खर्च रहा हो। अतः जब उन्हें उठाया जाता है तो वे तनाव से जड़ होते हैं और उस बेचैनी को झटकने के लिए वे अपने हाथ-पैर चलाते हैं या पकड़ने वाले को यह संकेत देने की कोशिश करते हैं कि उन्हें घुटने पर बैठा कर या हवा में उछाला जाए। मिलिसेंट को सैथ और दूसरे बच्चों के शरीर में अंतर से अचरज हुआ था। सैथ का शरीर मुलायम महसूस होता है, उसने कहा। जबकि दूसरों के शरीर कुरेदनी से लगते हैं।

हमें यह मानना होगा कि, हम बच्चों से सैकड़ों-हजारों सालों से जिस तरह का बरताव करते रहे हैं, उससे ही शांत, कोमल और मांग न करने वाले बच्चों का भरोसा हमें रहता है। केवल तब ही कामकाजी माँ, जो पूरे दिन बिना वयस्क साथ के ऊबने या सबसे कटने को तैयार न हो, उस क्रूर द्वन्द्व से बच सकती है, जो उसके मन में उठता है। कार्यस्थल पर अपनी माँ के साथ होने की शिशुओं को आवश्यकता है; और माँ के लिए भी ज़रूरी है कि वह कार्यस्थल पर अपने सहकर्मियों के साथ हो। केवल शिशु की देखभाल करने के बदले ऐसा कुछ भी कर सके जो बुद्धिमान वयस्कों के लिए उचित काम हो। परन्तु ज़ाहिर है कि नियोक्ता इस विचार का तब तो कतई स्वागत नहीं करेंगे जब तक शिशुओं की साख सुधर नहीं जाती।

एमएस पत्रिका ने कार्यालय में शिशुओं को साथ लाने का साहसिक प्रयत्न प्रारंभ किया था। यह प्रयास इतना साहसिक नहीं होता अगर उन शिशुओं का किसी व्यक्ति से शारीरिक संपर्क न बना रहा होता, बजाए इसके कि वे अपनी बच्चा गाड़ी में या पास की मेज़ों पर अकेले पड़े रहते।

सातत्य के सिद्धान्त को सभी लोग इतनी जल्दी और सुखद नतीजों के साथ लागू नहीं कर पाए, जैसे मिलिसेंट तथा मार्क कर पाए। इस दंपति के अब और बच्चे भी हैं जिन्हें उन्होंने ठीक सैथ की तरह ही पाला है। एन्थिआ नामक एक माँ ने पुस्तक पढ़ने के तत्काल बाद मुझे लिखा। उसे अहसास हुआ था कि उसे “शिशु देखभाल विशेषज्ञों”

की बात सुनने और मानने के बदले अपने सहजबोध की आवाज़ सुननी चाहिए थी। अब उसका बेटा ट्रेवर, जिसके साथ उसने “सभी गलत काम” किए थे चार साल का हो चुका था और अब उसका दूसरा बालक आने वाला था। यह नन्हा प्रारंभ से ही “सातत्य शिशु” होगा। पर ट्रेवर के साथ वह क्या करे?

किसी चार साल के बच्चे को गोदी उठाए घूमना, ताकि “गोदी उठाए रखने के” चरण की प्रवंचना की भरपाई की जा सके, मुश्किल है। साथ ही यह भी ज़रूरी है कि वह अपने कालक्रमानुसार अपनी आयु के हिसाब से खेले, खोजबीन करे, और सीखे। सो मैंने एन्थिआ व उसके पति ब्रायन को सुझाव दिया कि वे रात में सोते समय ट्रेवर को अपने साथ सुलाए और दिन में जैसे पहले चल रहा था वही चलने दें। सिवाए इसके कि वे बालक को गोद में बैठने को प्रोत्साहित करते रहें, और जब भी संभव हो उसके लिए शारीरिक रूप से उलब्ध रहें। मैंने उनसे यह भी कहा कि वे जो कुछ घटता है उसका दैनिक रिकॉर्ड रखें। यह बात पुस्तक छपने के तुरंत बाद की थी, और मुझे लगा कि एन्थिआ और ब्रायन के अनुभव दूसरों के लिए भी उपयोगी होंगे।

एन्थिआ ने पूरी निष्ठा के साथ ब्यौरा रखा। प्रारंभिक रातों को कोई भी अच्छी नींद नहीं ले सका। ट्रेवर छटपटाता और कुनमुनाता। किसी की नाक में उसकी पैरों की उंगलियाँ घुसतीं, तो कान में कोहनी। मध्य रात्रि पानी के गिलासों की ज़रूरत पड़ती। एक बार ट्रेवर बिस्तर में यों लम्बा हो गया कि एन्थिआ और ब्रायन को बिस्तर के छोरों से सटे पड़े रहना पड़ा। कई सुबह ब्रायन लाल आँखों और खीझ से भरा दफ्तर को कूच करता। पर वे लगे रहे, अन्य लोगों से विपरीत, जो तीन या चार रातों के प्रयोग के बाद मुझसे कहते, “यह कारगर नहीं है; हमें नींद ही नहीं आई”, और हथियार डाल देते।

तीन माह बाद एन्थिआ ने बताया कि अब परेशानी नहीं होती; तीनों रात को चैन से सोने लगे। न केवल ट्रेवर के साथ उनके रिश्तों में काफी सुधार आया, बल्कि पति-पत्नि का आपसी रिश्ता भी सुधरा। “और” उसने अपनी रपट के अंत में, पहली बार यह ज़िक्र भी किया कि, “स्कूल में ट्रेवर अब आक्रामकता नहीं दर्शाता है।”

कुछ महीनों बाद ट्रेवर अपने आप ही अपने बिस्तर पर सोने लगा। उसका मन, जो शैशव का निद्रा अनुभव होता, उससे भर चुका था। अब उसकी बहन उसके माता-पिता के बिस्तर पर होती थी। परन्तु वहाँ से हटने के बाद भी उसे यह विश्वास हो चुका था कि

जब भी उसे ज़रूरत महसूस होगी, उसका अपने माता-पिता के बिस्तर पर स्वागत होगा।

मैं यह जानकर आश्चर्य हुआ कि कोई चार साल बाद सिर्फ़ तीन माह में इतने समय के खोये हुए अनुभव की पूर्ति कर सका। कई लोगों और दर्शकों को मुझे ट्रेवर की कहानी बताते हुए खुशी होती, जो बाद में इसी तरह के सवाल लिखते और पूछते थे।

अपराधबोध इस बात का क्यों न हो कि पाश्चात्य सभ्यता में आप ही वह अकेले व्यक्ति नहीं हैं जो बालक से उचित बरताव करते हैं

एक अन्य माता, रेचल, जिसका चार बच्चों का परिवार आधा बड़ा हो चुका था, ने मुझे लिखा, “मुझे लगता है कि आपकी किताब क्रूरतम आलेखों में से हो, जो मैंने कभी भी पढ़े हों। मैं यह नहीं सुझा रही कि आपको उसे लिखना नहीं चाहिए था। मैं यह भी नहीं कह रही कि काश, मैंने उसे पढ़ा न होता। सीधी सी बात यह है कि उसने मुझ पर गहरा असर डाला, मुझे गहरी पीड़ा दी, मेरी जिज्ञासा जगाई। आपके सिद्धान्त की संभावित सच्चाई का सामना मैं नहीं करना चाहती और मैं हर संभव चेष्टा कर रही हूँ कि इससे मैं बच सकूँ... (बहरहाल शिशु जो अनुभव करते हैं उस वर्णन के लिए ईश्वर आपको क्षमा करें, क्योंकि नोएल कावर्ड के शब्दों में, मैं तो कभी क्षमा नहीं कर पाऊँगी!)... मुझे आश्चर्य है कि आपको अब तक किसी ने दण्डित क्यों नहीं किया... प्रत्येक माता जो इस पुस्तक को पढ़े उसे इसके निहितार्थों से बचना होगा... पता है, मैं ईमानदारी से मानती हूँ कि जो कुछ मैंने झेला वह सब सिर्फ़ इसलिए झेल पाई क्योंकि मैंने उसे सामान्य और अपरिहार्य माना — नितांत “स्वाभाविक”। इस शब्द का उपयोग दूसरी माएँ एक दूसरे को तसल्ली देने के लिए करती हैं। बाल मनोवैज्ञानिक और किताबें भी। यही तो उस तकलीफ़ को झेलने लायक बनाता है। पर अब जब आपने मेरे दिमाग में यह विचार घुसा दिया है कि मामला कुछ और भी हो सकता है, यह कहने में मुझे कोई झिझक नहीं है कि आपकी पुस्तक पढ़ने के चौबीस घंटों बाद, और पढ़ने के दौरान भी, मैं अवसाद से इस कदर घिर गई कि जी चाहा कि मैं खुद को गोली मार दूँ।”

खुशी है कि लेखिका रेचल ने ऐसा नहीं किया और हम अब करीबी दोस्त बन गए हैं। वह सातत्य की अवधारणा की उम्दा पैरोकार है और मैं उसकी ईमानदारी और शब्दों की शक्ति की प्रशंसक हूँ। पर उसने जो भावनाएँ व्यक्त की — अवसाद, अपराधाबोध

पश्चाताप — वे भावनाएँ अक्सर उन पाठकों के मन में उपजती हैं जिनके बच्चे बड़े हो चुके हैं।

बेशक, हमने नेक इरादों से उन लोगों के साथ जिन्हें हम सबसे अधिक प्यार करते हैं, जो किया है उस पर विचार करना बेहद पीड़ादायक है। पर हम यह भी सोचें कि हमारे प्रेमालु माता-पिता ने जो हमारे जैसे ही अनभिज्ञ और भोले-भाले थे — ने जो हमारे साथ किया था, और निश्चित रूप से जो उनके साथ भी किया गया होगा। साक्षर विश्व का अधिकांश हिस्सा प्रत्येक भरोसा करने वाले नए शिशु के उत्पीड़न में हमारे साथ जुड़ेगा: यह रीत बन चुकी है (इसके कारणों का कयास मैं यहाँ नहीं लगाऊँगी)। फिर क्या हममें से किसीको भी यह अधिकार है कि हम उस अपराधबोध को, या हमारे साथ धोखा हुआ है के भाव को अपने माथे ओढ़ लें, मानों हमें अकेले को ही अधिक समझदार होना चाहिए था? परन्तु अगर दूसरी और व्यक्तिगत अपराधबोध के भय से हम यह स्वीकारने से ही इनकार करें कि हम एक-दूसरे के साथ क्या करते हैं, तो बदलने की उम्मीद ही कहाँ बचेगी?

उदाहरण के लिए नैन्सी को ही लें, एक खूबसूरत, सफेद बालों वाली महिला, जिसने लंदन में मेरा भाषण सुना। उसने मुझे बताया कि जबसे उसने और उसकी बेटी ने — जो पैंतीस साल की थी — मेरी पुस्तक पढ़ी, अपने रिश्ते की उनकी आपसी समझ उन्हें अब पहले से ज्यादा करीब ले आयी। एक अन्य माँ, रोसालिंड ने मुझे बताया कि पुस्तक पढ़ने के बाद वह कई दिनों तक रूँआसी और अवसाद में डुबी रहीं। उसके पति ने समझदारी और धैर्य पूर्वक उसकी दोनों छोटी पुत्रियों को संभाला जब वह निस्तेज थी और अपना जीवन चलाने में भी कठिनाई महसूस कर रही थी। “किसी एक बिन्दु पर”, उसने मुझे बताया कि, “मुझे अहसास हुआ कि आगे बढ़ने का एक ही रास्ता है कि मैं फिर से पुस्तक को पढ़ूँ... इस बार शक्ति पाने के लिए।”

### देख पाने की हमारी विचित्र अक्षमता के विषय में

एक दिन एक परिचित ने बड़े उत्साह से मुझे फोन कर, बस में अपने साथ हुए अनुभव की बात बताई। वह बस में एक वेस्ट-इण्डियन महिला और एक नन्हे बालक के पीछे बैठा था, जो कि आपस में एक सुमधुर संबंधों का मजा ले रहे थे जो कि ब्रिटिश समाज

में बिरले ही नज़र आता है। “बेहद सुंदर था वह रिश्ता”, उन्होंने कहा, “मैंने आपकी किताब कुछ ही पहले पढ़ी थी, और वे वहाँ थे, जीवित उदाहरणों की तरह। मैं पहले भी उन दोनों जैसे कई लोगों के बीच मौजूद रहा था, पर उस चीज़ को कभी देख न पाया था जो अब इतनी साफ-स्पष्ट लगती है। मैंने कभी गौर ही नहीं किया था कि ऐसे लोग हमारे लिए किस तरह की सीख बन सकते हैं अगर हम यह समझ सकें कि वे कैसे आखिर बने कैसे... और हम कभी कैसे नहीं बन पाते।”

हम इस कदर अंधे हैं कि इंग्लैण्ड में सचमें एक संगठन है जिसका नाम है न सोने वाले बच्चों के पालकों का राष्ट्रीय संगठन (नैशनल एसोसिएशन फॉर पेरेंट्स ऑफ स्लीपलेस चिल्ड्रन)। एल्कोहॉलिक्स एनॉनिमस की तर्ज पर यह संगठन भी चीखने-चिल्लाने वाले बच्चों से पीड़ित लोगों को ढाढ़स बंधाने के लिए सहानुभूति जताते हुए कुछ ऐसे जुमले सुनाता है, “अंततः वे इस दौर से निकल ही जाते हैं”, “अपने पति या पत्नि के साथ बारी-बारी बच्चे को संभालें ताकि दोनों ही कुछ देर तक सो सकें”। “अगर आप जानते हैं कि बच्चे को कोई तकलीफ नहीं है तो कुछ देर रोने देने में कोई हर्ज नहीं।” और जो सबसे श्रेष्ठ सलाह वो देते हैं वह है “अगर सारे उपाय नाकाम रहें तो बच्चे को अपने बिस्तर पर सुलाने से उसे कोई नुकसान नहीं होगा”। पर वे यह कभी नहीं सुझाते कि वे लड़ाई बन्द कर दें और शिशुओं पर विश्वास करें – जो सर्वसम्मति से और बिल्कुल स्पष्ट सबको बताते हैं कि शिशु की जगह दरअसल है कहाँ।

“बाल केन्द्रित” या वर्जनाहीन होने के विषय में

अगर पूरे दिन माता-पिता का ध्यान बच्चों की देखभाल पर ही केन्द्रित होगा तो यह सिर्फ स्वयं व दुसरों के लिये उबाऊ ही नहीं वरन् एक तरह से अस्वास्थ्यकर देखभाल भी होगी। एक शिशु की अपेक्षा होती है कि वह एक सक्रिय व्यक्ति के जीवन के बीच रहे, सतत् शारीरिक संपर्क में, और उन विविध अनुभवों का गवाह बने जो बाद में उसे अपने जीवन में भी होने वाले हैं। गोदी में उठाए जाते समय शिशु की भूमिका निष्क्रिय होती है, जबकि उसकी सारी इंद्रियाँ अवलोकन करती हैं। बीच-बीच में उसे प्रत्यक्ष ध्यान भी आनंद देता है, चूमना, गुदगुदाना, हवा में उछाला जाना, आदि। पर उसका मुख्य काम है अपनी देखभाल करने वाले वयस्क या बड़े बालक की सभी क्रियाओं, अंतःक्रियाओं

और आस-पास के वातावरण को आत्मसात करना। यह सूचना उसे इस बात के लिये तैयार करती है कि उसके लोगों में उसकी जगह कहाँ है जिससे उसे यह समझने में मदद मिले कि वे क्या करते हैं। इस सशक्त इच्छा का दमन — जो आप जिज्ञासा से भर देखने वाले शिशु की ओर सवालिया नज़र से देखकर करते हैं — उसमें गहरी कुंठा जगाता है। उसके दिमाग को जकड़ता है। बालक की यह उम्मीद कि वह एक मजबूत, व्यस्त, केंद्रीय व्यक्ति के हाशिए पर रहे, उस समय कमजोर बन जाती है जब उसकी देखभाल करने वाला व्यक्ति भावनात्मक रूप से कंगाल हो। ऐसा पराधीन व्यक्ति हो जो शिशु द्वारा स्वीकारा जाना या उसके अनुमोदन को चाहता हो। ऐसे में शिशु लगातार बढ़ते संकेत देने लगेगा। पर ये संकेत अधिक ध्यान चाहने के लिए नहीं होंगे। दरअसल शिशु यह मांग कर रहा होगा कि उसे समुचित अनुभव मिले। शिशु की कुंठा का अधिकतर भाग संकेतों द्वारा कि चीजें सही नहीं हैं, सही कर पाने की अक्षमता से जन्मती है।

कुछ सबसे अजीब आए हुए और “द्वेषपूर्ण” बच्चे वे होते हैं जिनका समाज-विरोधी आचरण वास्तव में यह गुहार लगाता है कि कोई उन्हें सहकार से आचरण करना सीखाए। वर्जनाहीनता (परमिसिवनैस) बच्चे को वयस्क केंद्रित जीवन के उदाहरण से वंचित करती है, जहाँ वे अधिक या कमतर अनुभव के स्वाभाविक पदक्रम में अपनी जगह तलाश सकें। जहाँ उनके वांछनीय कृत्यों को स्वीकारा जाए और अवांछनीय कृत्यों को नकारा जाए, जबकि स्वयं उन्हें हमेशा पूरी तरह स्वीकारा जाए।

बच्चों को यह समझने की आवश्यकता है कि उन्हें नेक-नियत और स्वाभाविक रूप से सामाजिक व्यक्ति माना जाता है जो सही काम करने की चेष्टा कर रहे हों और जो उनका मार्गदर्शन करने वाले बड़ों से भरोसेमंद प्रतिक्रिया चाहते हों। बच्चा क्या किया जाना चाहिए और क्या नहीं की सूचना चाहता है, अतः अगर वह कोई तशरी तोड़े तो उसे इस नुक्सान पर नाराज़गी या दुःख की प्रतिक्रिया की आवश्यकता होती है। परन्तु उसके प्रति सम्मान खो देने की नहीं — मानो बालक भी तशरी फिसलने से नाराज़ और दुःखी न हुआ हो और उसने खुद ही यह संकल्प न कर लिया हो कि वह भविष्य में और अधिक सावधानी बरतेगा।

अगर सब कुछ की छूट देने वाले पालक वांछनीय और अवांछनीय कृत्यों में अंतर नहीं करते, तो बालक अक्सर अधिक बाधा डालने और विघटित करने वाला आचरण

करेगा, ताकि उसके माता-पिता अपनी सही भूमिका अदा करें। और जब वे अपने धैर्य पर और अतिक्रमण नहीं झेल सकेंगे तो फटकर बच्चे पर ही अपना सारा गुस्सा उड़ेल देंगे। संभवतः वे कहें कि वे “अघा चुके हैं” और उसे नज़रों से दूर कर देंगे। ऐसे में बच्चे को संदेश यह मिलेगा कि उसका अब तक का सारा आचरण जिसे उसके पालक झेलते रहे थे, दरअसल खराब था। कि वे उस समय अपनी असली भावनाओं को छिपा रहे थे। और यह कि बच्चे की जो न सुधारी जा सकने वाली बुराई है, उसने बालक को स्वीकारने के स्वाँग को आखिरकार समाप्त कर दिया है। कई परिवारों में खेल को ठीक इसी तरह परिभाषित किया जाता है, जिनके बच्चे यह मानने लगते हैं कि उनसे उम्मीद रखी जाती है कि वे यथासंभव जितना खराब आचरण कर “बच सकते हैं” बच लें, इसके पहले कि कुल्हाड़ी गिरे और वे अस्वीकार्य होने के असली रंग में उजागर हो जाएँ।

कुछ अतिवादी मामलों में, अक्सर जब पालकों का पहला बच्चा काफी बड़े होने पर होता है, वे अपने प्यारे नन्हों पर इस कदर जान छिड़कते हैं कि वे कभी यह संकेत नहीं देते कि क्या किया जा सकता है और क्या नहीं। ऐसे में बच्चे कुंठा से पगला जाते हैं। वे माता-पिता की हर नई गुहार : “क्या तुम्हें यह चाहिए?”, “क्या तुम यह करना चाहोगे?” “अच्छा बताओ तुम क्या खाना चाहोगे?”... “करना चाहोगे?”... “पहनना चाहोगे?” “बोलो, मम्मी क्या करे?” आदि-आदि पर विद्रोह करते हैं।

मैं एक बेहद सुंदर ढाई साल की लड़की को जानती हूँ, जिसके साथ ठीक ऐसा ही आचरण किया गया था। और उस उम्र में भी वह कभी मुस्कुराती नहीं थी। अपने माता-पिता के चाटुकारिता भरे सुझावों, जो वे इस मंशा से देते कि वह उनसे खुश होगी, का सामना वह असंतोष और “ना!” के अड़ियल दोहराव से करती थी। उसको खारिज करना उन्हें और उत्साहहीन बनाता। वह नन्ही अपने माता-पिता से ऐसा कोई उदाहरण नहीं रखवा पाई जिससे वह सीख सकती, क्योंकि वे मार्गदर्शन के लिए बच्ची की ओर ताकते रहते थे। वह जो चाहती वे उसे ज़रूर-ज़रूर देते, पर वे यह समझ ही नहीं सके कि उसकी वास्तविक ज़रूरत तो यह थी कि वे वयस्कों का अपना जीवन जिए, उसे अपने बीच रखते हुए।

बच्चे अपनी ओर ध्यान बँटाने में जितनी भारी मात्रा में ऊर्जा खर्चते हैं वह इसलिए नहीं कि उन्हें महज ध्यान की ज़रूरत होती है। दरअसल वे संकेत यह देते होते हैं कि



उनका अनुभव उन्हें स्वीकार्य नहीं है। और वे देखरेख करने वाले का ध्यान इसलिए खींचते हैं ताकि उस अनुभव को सुधारा जा सके। अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने का आजीवन चलने वाला आवेश ध्यान आकर्षित करवा पाने में उसकी प्रारंभिक असफलता से जन्मी कुण्ठा का ही परिणाम है। ऐसे में होता यह है कि ध्यान आकर्षित करना ही एक लक्ष्य बन जाता है, ईच्छाओं की एक बाध्यकारी स्पर्धा। अतः ध्यान देने का कोई ऐसा तरीका जो बच्चे से प्रतिक्रिया में और अधिक संकेत दिलवाए, अनुचित तरीका है। स्वाभाविक तार्किकता इस धारणा को टिकने नहीं देती — कि क्रमविकास ने कोई ऐसी प्रजाति गढ़ी है जिसका एक चारित्रिक लक्षण है, लाखों माता-पिता को पागल बना डालना। तीसरी दुनिया के अन्य लाखों पालकों पर नज़र डालते ही — जिन्हें अपने बच्चों को न समझने और उन पर भरोसा नहीं करना सीखने का “सौभाग्य” नहीं मिला है — यह स्पष्ट करता है कि परिवार शांति से जीते हैं, और चार साल से बड़ा प्रत्येक बच्चा परिवार के श्रमबल में उपयोगी और उत्साह सहित इज़ाफा करता है।

### मनोचिकित्सा (साइकोथैरेपी) पर नए विचार

बाल्यावस्था की वंचनाओं के प्रभाव का उपचार करने का मेरा तरीका उन अनुभवों को फिर से उत्पन्न करने से निकला है, जिससे बच्चे वंचित रह गए थे। इस प्रवंचना के जो नुक्सानदेह संदेश सचेतन या अवचेतन रूप से मानस पर अंकित हो जाते हैं, उन्हें मैं बदलना चाहती हूँ। एक मनोचिकित्सक के रूप में काम करते हुए मैंने पाया कि स्वयं से की जाने वाली कम या नकारात्मक उम्मीदों को यह समझने पर रूपान्तरित किया जा सकता है कि वे अपेक्षाएँ क्या हैं, वे वहाँ कैसे आई, और वे क्यों गलत हैं। अपर्याप्तता का गहरे पैठा हुआ भाव, अपने मूल रूप में अपने वास्तविक गुण का सहज ज्ञान होता है। जो अनुभव भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ आरोपित करते हैं वे इस ज्ञान के साथ विश्वासघात कर उसे मिटा देते हैं। इन धारणाओं के अनुसार शैशव तथा बाल्यावस्था में व्यक्ति प्रश्न करने में अक्षम होता है। भय — नामहीन, आकारहीन नतीजों का खतरा जिनकी कल्पना तक न की जा सके — काम करने की आज़ादी को खत्म कर देते हैं या उस दिशा में सोचने तक की आज़ादी को भी। ये भय कई बार इस कदर जकड़ते हैं कि व्यक्ति स्वयं द्वारा बनाए कारागार में जीने भर को स्वतंत्र होता है।

इन भयों को उनकी शुरुआत तक तलाशें तो पता लगता है कि वे ऐसे अनुभव हैं, जिन्हें जब वयस्क अंततः देख पाता है तो पाता कि वे केवल किसी बालक के लिए ही भयावह हैं। उस भय का सामाना करने से बचने के लिए थकाने वाला निरंतर प्रयास आखिरकार समाप्त होता है; और व्यक्ति के जीवन का जो भाग उनसे जकड़ा हुआ था आखिरकार मुक्त हो जाता है। तब कहीं जाकर व्यक्ति को वह सब करने की छूट दे सकता है, जिसे वर्जित किया गया था। तब व्यक्ति सफल या असफल हो सकता है “भला इन्सान” बन सकता है या भला इन्सान होना बंद कर सकता है; प्यार कर सकता है या किसी के द्वारा प्यार किए जाने को स्वीकार सकता है; जोखिम उठा सकता है या जोखिम उठाना बंद कर सकता है। बिना उस अनुचित बाध्यता के जो व्यक्ति को उसके विवेक, सहजबोध और बुद्धि का श्रेष्ठतम उपयोग करने से रोकती है।

1970 के दशक के अंतिम हिस्से में, जब डॉ. फ्रैंक लेक अपनी तीस वर्ष लंबी भावविरेच (एबरिक्शन) उपचार संबंधी शुरुआती शोध के अंतिम वर्षों में थे, मैं नौटिंग्डैम, इंग्लैण्ड स्थित उनके केंद्र से जुड़ सकी। वे इस पुस्तक को पढ़ चुके थे और मुझे दिखाना चाहते थे कि लोगों की संवेदनाओं को आहत करने वाली घटनाएँ, जिनसे मेरा सरोकार है, वे जन्म के बाद नहीं बल्कि गर्भावस्था के प्रारंभिक समय में ही शुरू हो जाती हैं। उनके द्वारा जिन लोगों का अध्ययन किया गया, उनमें से कई ने नाटकीय ढंग से इन अनुभवों को पुनः जिया। बाद में यही मेरे भी कुछ मरीजों के साथ हुआ। इसने मुझे विश्वास दिलाया कि वे सही थे। खासकर तब जब किसी दूसरे को गर्भ की सी असहाय अवस्था में गुड़ीमुड़ी पड़े, कुछ खास तरह की आवाज़ें निकालते या भावनाओं को अभिव्यक्त करते देखने के पहले, उन्होंने स्वयं मुझमें ही भावविरेचन पैदा किया।

मैं इस तकनीक का अब भी उपयोग करती हूँ, जब मुवक्किल मेरे पास उस बिन्दु पर आते हैं, जब उन्हें अपने जन्म, शैशवावस्था या गर्भस्थ अवस्था के बारे में जानने की ज़रूरत हो। मेरा सोचना है कि भावविरेचन, नाटकीय होने के बावजूद, अपने आप में उपचारात्मक नहीं होता। इसका मूल्य सिर्फ इस तथ्य में है कि वह व्यक्ति की जानकारी में योगदान देता है। तब यह जानकारी (जो वह हमेशा पहले मानता था उसके विपरीत), उसके जीवन में वास्तव में क्या है की नई समझ में समेकित कर ली जाती है। कभी-कभार भावविरेचन पहेली का वह अंतिम टुकड़ा सिद्ध होता है जो समझ को बोध में बदल

देता है। यह तब संभव होता है जब व्यक्ति का स्वतःस्फूर्त आचरण अंततः उस नए तलाशे गए सत्य को प्रतिबिम्बित करता है। परन्तु यह रूपान्तरण सत्य और केवल मात्र सत्य ही ला सकता है, फिर चाहे वह कैसे भी क्यों न प्राप्त हुआ हो। छानबीन के दृढ़ आगमनात्मक या निगमनात्मक तरीके अपना कर; या उन विश्वासों को फिर से जाँच कर, जो बाल्यावस्था में बने थे (सामान्यतः जिनका संबंध “अच्छाई” या “बुराई” से हो); साथ ही भावविरेचन से या अन्य लोगों द्वारा एकत्रित आँकड़ों से, जिनका उस व्यक्ति के जीवन की प्रलयकारी घटना को भूल जाने में कोई निवेश न हो। इस प्रक्रिया के मुक्तिदायी नतीजे अमूमन काफी जल्दी दिखाई देने लगते हैं और प्रमुख रूपान्तरण वर्षों के बजाए महीनों में ही हो जाता है।

सातत्य अवधारणा के आलोक में, जो व्यक्ति सहायता चाह रहा है वह अंतर्निहित रूप से “सही” जीव होता है, जिसकी प्रजाति-विशिष्ट आवश्यकता की आपूर्ति नहीं हो पाई हो। ऐसे लोगों की क्रमशः विकसित अपेक्षाओं को उन लोगों ने आत्मतुष्ट तरीके से नकारा हो या भर्त्सना की हो, जिनकी भूमिका दरअसल उन अपेक्षाओं का सम्मान कर उन्हें पूरा करने की थी। दुर्भाग्य से असंवेदनशील पालक बच्चे को यह महसूस करवाते हैं कि वह प्यार करने लायक, या योग्य, या किसी भी तरह से “अच्छा” नहीं है। बालक अपनी प्रकृतिवश माता-पिता के गलत होने की कल्पना तक नहीं कर सकता : सो जिम्मेदार वह खुद को ही मान लेता है। अतः जब उसे यह पक्का अहसास हो जाता है कि उसको रोना, रूठना, खुद पर शंका करना, उसकी उदासीनता या ‘विद्रोह’ दरअसल उसके साथ किए गए गलत अचरण के प्रति सही मानवीय अनुक्रियाएँ (रिस्पोंस) थीं, तब उसकी स्वयं के प्रति यह भावना कि वह गलत था, समूचित रूप से बदल जाती है। इस आलोक में किसी व्यक्ति पर उसके इतिहास का स्वतः ही स्वस्थ प्रभाव प्रड़ता है। यह उस व्यक्ति के लिए एक उपचारात्मक माहौल बनाता है जो अब तक स्वयं को अयोग्य, स्वागत के अयोग्य या अपराधी मानता रहा हो। मुझे यह जान कर खुशी हुई है कि अन्य मनोचिकित्सकों को भी सातत्य की अवधारणा उपयोगी लगी है, स्वयं अपने लिए, उनके छात्रों के लिए और जिनका उपचार वे कर रहे हों उन लोगों के लिए भी।

सच तो यह है कि यह पुस्तक प्रकाशित हुई उसके बाद के दशक में इसके विचारों के विकास के लिए कई क्षेत्रों में एक अधिक अनुकूल वातावरण बना है – प्रसूति कर्म,

शिशु देखभाल, सामाजिक संस्थाओं, मनोविज्ञान तथा जन सामान्य में। ऐसा इसलिए संभव हुआ है क्योंकि जीवन जीने के लिए भरोसेमंद सिद्धान्तों की तलाश भी अधिक विस्तृत होती गई है। हाल में 'टाइम' पत्रिका में एक फिल्म के पात्र का जो वर्णन छपा था उसमें यह पढ़कर मैं उत्साहित हुई कि, "उसकी सामाजिक जिम्मेदारी की भावना में विवादातीत सहजबोध था, न कि संदेहास्पद विचारधारा।"

मुझे आशा है कि यह नया संस्करण तथा अन्य भाषाओं में भावी प्रकाशन, इसी "विवादातीत सहजबोध" द्वारा हमारी संदेहास्पद विचारधारा को सूचित करने में मददगार होंगे।

लंदन, 1985



# 1

## मेरे विचारों में क्रांतिकारी बदलाव कैसे आया

यह पुस्तक एक विचार को प्रतिपादित करने के लिए है, एक कथा सुनाने के लिए नहीं। परन्तु मुझे लगता है कि अपने इतिहास के बारे में, जिस पृष्ठभूमि में इस अवधारणा ने जड़ें जमाई उसकी तैयारी के बारे में कुछ बताने से एक उद्देश्य हासिल हो सकता है। इससे यह स्पष्टीकरण मिल सकता है कि बीसवीं शताब्दी के अमरीकियों से, जिनके बीच मैं पली-बढ़ी थी, मेरे विचार इतने भिन्न क्यों बने।

मैं दक्षिण अमरीका के जंगलों में किसी सिद्धान्त की पुष्टि करने नहीं गई थी। मेरे मन में इण्डियनों (अमरीका के मूल निवासी जिन्हें रेड इण्डियन कहा जाता है) के प्रति स्वाभाविक जिज्ञासा थी और एक अस्पष्ट-सा विचार कि शायद मैं कुछ महत्वपूर्ण सीख सकूँगी। अपनी पहली यूरोप यात्रा में मैं फ्लौरेंस में थी, जब मुझे हीरों की तलाश में निकल रहे दो इतालवी खोजियों ने वैंनेजुएला की कारोनी नदी क्षेत्र की यात्रा का आमंत्रण दिया। कारोनी नदी ओरिनोको की सहायक नदी है। यह आमंत्रण बिल्कुल अंतिम पल का था और मेरे पास निर्णय ले, होटल भाग कर सामान समेट, स्टेशन पहुँच ट्रेन छूटने के पहले डब्बे में चढ़ जाने के लिए महज बीस मिनट का समय था।

वह पल बेहद नाटकीय और भयावह भी था, जब मेरी भागदौड़ अचानक खत्म हुई और मैंने सूटकेसों से लदे डब्बे को, धूल-धूसरित खिड़की के प्रकाश में देखा और महसूस किया कि मैं एक वास्तविक जंगल की दिशा में बढ़ रही हूँ।

जाने के मेरे क्या कारण हो सकते हैं पर सोच-विचार करने का समय तक मेरे पास नहीं था, पर मेरी प्रतिक्रिया तात्कालिक और बिल्कुल दृढ़ थी। हीरों का विचार मुझे इतना मोहक नहीं लगा था, हालाँकि किसी ऊष्णकटिबंधीय नदी के तल में दौलत खोद निकालने का विचार मेरी कल्पना के किसी दूसरे काम से अधिक आकर्षक ज़रूर था। पर मेरे लिए सारा जादू “जंगल” शब्द में था, संभवतः इसलिए क्योंकि उस वक्त ऐसा कुछ घटा था जब मैं बच्ची थी।

यह घटना तब की है जब मैं आठ साल की थी और मेरे लिए भारी महत्व की थी। इसे मैं अब भी एक मूल्यवान अनुभव मानती हूँ। परन्तु अधिकांश अंतर्बोध जगाने वाले पलों की ही तरह इस घटना ने भी एक व्यवस्था के अस्तित्व की झलक, बिना उसकी संरचना को स्पष्ट किए दी और न ही यह स्पष्ट हो पाया कि रोज़मर्रा के जीवन की उलझन के बीच उस दृष्टि को व्यक्ति कायम कैसे रखे। पर इस सबसे भी अधिक निराशाजनक बात यह थी कि मेरे इस विश्वास ने, कि मैंने अंततः एक अस्पष्ट सत्य को देखा है, इस उलझन से बाहर निकलने में मेरी अल्प मदद की, या कतई मार्गदर्शन नहीं किया। वह छोटी-सी झलक इतनी नाज़ुक-सी और क्षणभंगुर थी कि मैं यात्रा से लौटकर उसे लागू करने के लिए बचा भी न सकी। हालाँकि उसे मेरे अतिसामान्य उत्प्रेरणों का, और भी खतरनाक रूप से आदतों की शक्ति का सामना करना पड़ा, फिर भी शायद उसका उल्लेख उचित होगा क्योंकि इसने उस सहीपन (राइटनेस) का संकेत दिया, जिसकी तलाश इस पुस्तक का मकसद है।

यह घटना माईन के जंगलों में एक प्रकृति भ्रमण के दौरान घटी जहाँ मैं ग्रीष्मकालीन शिविर के लिए गई थी। मैं कतार के अंत में थी और कुछ पिछड़ गई थी, सो तेजी से आगे बढ़ सबके साथ हो लेने की कोशिश कर रही थी कि पेड़ों के बीच से मुझे एक वन-मैदान दिखाई दिया। उसके दूसरे छोर पर देवदारु का एक घना पेड़ था और बीचों-बीच एक टीला, जो लगभग चमकदार हरी काई से ढका था। दोपहर की सूर्य किरणों नील-श्याम चीड़ के वृक्षों के जंगल पर तिरछी पड़ रही थीं। ऊपर जो नीले

आकाश की नन्ही-सी छत नज़र आ रही थी वह विशुद्ध नीली थी। इस पूरी छवि में एक पूर्णता थी, सब कुछ वहाँ है के भाव की ऐसी गहन शक्ति, जिसने मुझे वहीं ठिठका दिया। मैं वन-मैदान के छोर पर गई, और तब कोमल कदमों से, मानो मैं किसी जादूई या पवित्र स्थान पर जा रही होऊँ, बीच तक गई। वहाँ मैं बैठी और फिर ताज़ी कार्ड पर गाल टिका लेट गई। यही है, मैंने सोचा, और जिस दुश्चिन्ता ने मेरे अब तक के जीवन को रंगा था, उसे मैंने झड़ जाते महसूस किया। आखिरकार यही वह स्थान है जहाँ सब कुछ ठीक वैसा ही है, जैसा उसे होना चाहिए। सब कुछ अपने सही स्थान पर था — वह वृक्ष, उसके नीचे की माटी, वह चट्टान, कार्ड। पतझड़ में भी वह सही होगा; सर्दियों में बर्फ के नीचे अपने सर्दपन में बिल्कुल सटीक। बसन्त फिर लौटेगा और चमत्कार पे चमत्कार घटेंगे, प्रत्येक अपनी विशिष्ट गति पर, कुछ वस्तुएँ मृत हो चुकी होंगी, तो कुछ अपने पहले बसन्त में अंकुरित हो रही होंगी, पर सब कुछ समान और पूरी तरह सही होगा।

मुझे लगा कि मैंने चीजों का वह लुप्त केंद्र खोज लिया है, सहीपन की कुंजी ही पा ली है और मुझे इस ज्ञान को सहेज कर रख लेना चाहिए जो उस स्थान पर इतना स्पष्ट था। पल भर को मन ललचाया कि मैं याद्दाश्त के लिए अपने साथ कुछ कार्ड खुरच कर ले जाऊँ; पर बड़ों के से एक विचार ने मुझे रोक दिया। मुझे अचानक यह डर सताया कि कार्ड के एक तावीज को संजोने पर कहीं मैं असली पुरस्कार ही न खो दूँ : उस समय जो अंतर्दृष्टि उपजी थी — कहीं यह न मान बैठूँ कि जब तक कार्ड मेरे पास सुरक्षित रहेगी मैंने जो महसूस किया — देखा, वह भी बना रहेगा, पर बाद में एक दिन पता चले कि मेरे पास चुटकी भर मृत वनस्पति के सिवा कुछ है ही नहीं।

सो मैंने वहाँ से कुछ नहीं लिया, पर खुद से वादा किया कि मैं वन-मैदान को हर रात सोने के पहले याद करूँगी और यों संतुलन लाने की उसकी शक्ति से कभी दूर न होऊँगी। आठ साल की आयु में ही मुझे यह मालूम था कि मूल्यों को लेकर जो भ्रम मुझ में मेरे पालकों, शिक्षकों, अन्य बच्चों, धाय माँओं, शिविर सलाहकारों और अन्य लोगों द्वारा लादा गया था वो मेरे बढ़ने के साथ और भी जटिल होता जाएगा। आगामी वर्ष और पेचीदगियाँ जोड़ेंगे और मुझे सही-गलत और अवांछनीय की जटिल उलझनों की दिशा में बढ़ा ले जाएँगे। यह समझने के लिए मैं पर्याप्त देख ही चुकी थी। परन्तु अगर मैं उस



वन-मैदान को साथ रख सकूँगी, मैंने मन में सोचा, तो मैं कभी खोऊँगी नहीं।

उस रात मैंने मन में वन-मैदान का स्मरण किया और कृतज्ञता के भाव से भर उठी। मैंने अपनी उस दृष्टि को सुरक्षित रखने के संकल्प को दोहराया और कई वर्षों तक उसका गुण बिना घटे बना रहा क्योंकि मैं अपने मन में हर रात उस टीले, देवदार के वृक्ष, प्रकाश और उस समग्रता को देखती रही।

परन्तु जैसे-जैसे और भी साल गुज़रे मैं अक्सर पाती कि मैं कई-कई दिनों या सप्ताहों तक वन-मैदान को भूल जाती थी। मैंने मुक्ति के उस भाव को फिर से थामने की चेष्टा की जो मेरी मूल दृष्टि में समाहित था। परन्तु मेरा संसार विस्तृत होता गया। शिशु कक्षा की जो “सीधी-सरल अच्छी लड़की – बुरी लड़की” का मूल्य बोध था, पर संस्कृति के मेरे क्षेत्र तथा मेरे परिवार के टकराव भरे मूल्य हावी होते जा रहे थे। ये मूल्य विक्टोरियन काल के सद्गुण तथा लालित्य के साथ व्यक्तिवाद की तरफ झुकाव, उदार दृष्टिकोण, कलात्मक गुणों व विलक्षण मौलिक बुद्धि, जैसी मेरी माँ की थी, उसके प्रति सम्मान का मिश्रण थे।

जिस समय मैं करीब पंद्रह साल की हुई, मुझे एक खालीपन सा, एक खोखले-से दुःख का अहसास हुआ (क्योंकि मुझे याद ही नहीं रहा कि मैं मातम किस बात का मना रही हूँ) कि मैंने वन-मैदान का अर्थ ही खो दिया है। मुझे जंगल का वह दृश्य तो बखूबी याद था, पर कोई को एक स्मृतिचिन्ह के रूप में खुरच कर ले जाने से रोकते समय मेरे मन में जो आशंका थी, वह फलीभूत हो चुकी थी, उसका महत्त्व मैं भूल चुकी थी। वन-मैदान की मेरी मानसिक छवि एक खाली तावीज़ में तब्दील हो चुकी थी।

मैं अपनी दादी के साथ रहती थी, और उनके देहावसान के बाद मैंने युरोप जाने का निश्चय किया, हालाँकि मैंने कॉलेज की पढ़ाई अभी तक पूरी नहीं की थी। मेरे दुःख के इस चरण में मेरे विचार स्पष्ट नहीं थे, परन्तु क्योंकि माँ से सहारा चाहने पर मैं हमेशा आहत ही होती थी, मैंने स्वयं अपने पैरों पर खड़े होने का मुश्किल प्रयास किया। जिस भी चीज़ की इच्छा रखने की मुझसे उम्मीद की जाती वह सब मुझे पाने योग्य ही नहीं लगता था – फैशन पत्रिका के लिए लेखन, एक मॉडल के रूप में कैरियर बनाना या आगे पढ़ाई करना।

फ्राँस की दिशा में बढ़ रहे जहाज़ के केबिन में मैं ज़ार-ज़ार रोई, इस डर से कि मैं

किसी अनाम वस्तु की आशा में सभी परिचित वस्तुओं को दाँव पर लगा हार चुकी हूँ। पर मैं मुड़ना भी नहीं चाहती थी।

जब मैं पैरिस में चित्र बनाते और कविताएँ लिखते भटक रही थी, डियोर में एक मॉडल बनने की नौकरी की पेशकश मुझसे की गई, पर मैंने उसे स्वीकारा नहीं। फ्राँसीसी भाषा में छपने वाली वोग पत्रिका में कार्यरत लोगों से मेरा संपर्क था, परन्तु उनका उपयोग भी कभी-कभार मॉडलिंग करने, जिसमें किसी तरह की प्रतिबद्धता की ज़रूरत नहीं पड़ती, के अलावा मैंने नहीं किया। पर उस परदेश में मैं स्वयं को उससे अधिक सहज महसूस करती थी जितनी सहज मैं अपने मूल स्थान न्यूयॉर्क में स्वयं को कभी नहीं महसूस करती थी। मुझे लगा कि मैं सही राह पर हूँ, पर फिर भी यह नहीं कह सकती थी कि दरअसल मैं किस चीज़ की तलाश में हूँ। गर्मियों में मैं इटली गई, पहले वेनिस और तब लोम्बार्ड के एक विला में समय बिताने के बाद फ्लोरेंस। वहाँ मेरी मुलाकात दो युवा इतालवियों से हुई, जिन्होंने मुझे दक्षिण अमरीका में हीरो की खोज पर चलने को आमंत्रित किया। जिस तरह अमरीका छोड़ते समय मैं भयभीत थी, इस बार भी मैं अपने कदम की साहसिकता से सहमी हुई थी, पर पीछे हटने का विचार मुझे पल भर के लिए भी नहीं आया।

कई तैयारियों और विलंबों के बाद अंततः जब हमारी यात्रा प्रारंभ हुई, हम कारकूपी नदी तक गए, जो करोनी नदी की एक छोटी, अन-तलाशी सहायक नदी है। एक माह तक तमाम अवरोधों के बावजूद हम नदी में काफी आगे तक बढ़े। इन बाधाओं में अधिकतर वे पेड़ थे जो टूट कर नदी को रोकते हुए पड़े थे। हमें कुल्हाड़ियों और छुरों से इन पेड़ों को काटकर रास्ता बनाना पड़ता या फिर हमें जल प्रपात या तेज प्रवाह मिलते, जिन्हें हमें दो इण्डियनों की मदद से नाव में रखी तकरीबन टन भर सामग्रियों के साथ पार करना पड़ता। जब तक हम आधार शिविर तक छोटी उपधाराओं की छानबीन करके पहुँचते नदी का आयतन आधा हो चुका था। कारकूपी में प्रवेश करने के बाद वह हमारे आराम करने का पहला दिन था। नाश्ते के बाद इतालवी नेता और दोनों इण्डियन भौगोलिक स्थिति का जायजा लेने निकल पड़े, और दूसरा इतालवी साथी अपने हैमक पर पसर गया।

सिउडाड बोलिवार हवाई अड्डे पर उपलब्ध कुछ ही पुस्तकों में से चुनकर खरीदी

दो पेपरबेक किताबें उठा मैं एक विशाल वृक्ष की जड़ों की चौकी पर जा बैठी, जो ठेठ नदी की ओर थी। मैंने पहले अध्याय का कुछ हिस्सा पढ़ा, सपनों में खोए हुए नहीं, बल्कि सामान्य ध्यान के साथ कहानी पढ़ते हुए, तब अचानक अहसास का एक ज़बरदस्त झटका लगा। “यही तो है! वन मैदान!” नन्ही बालिका की अंतर्दृष्टि की समूची उत्तेजना वापस लौट आई। मैं उसे खो चुकी थी, और अब वापस धरती के विशालतम जंगल में, एक परिपूर्ण वन-मैदान में, वह अंतर्दृष्टि लौट आई थी। जंगल के जीवन के रहस्य, पशुओं और पेड़-पौधों के तौर-तरीके, जंगल के नाटकीय तूफान और सूर्यास्त, उसके साँप, उसके ऑर्किड, उसका मोहक कौमार्य, उसमें राह बना निकलने में आने वाली दिक्कतें, और उसके सौंदर्य का औदार्य, सब मिलजुल कर उसे और भी सक्रियता और गहनता से ‘सही’ बना रहे थे। यह सहीपन विशाल स्तर का था। जब हम जहाज़ में उसके ऊपर से उड़े थे तो यह एक विशाल हरित समुद्र सा लगा था, जो हर ओर क्षितिज तक फैला हो, जिसके बीच जलपथ गुंथे हों, ऊँचे हठी पहाड़ हों – जो पठारों के खुले हाथों द्वारा आकाश को अर्पित किए जा रहे हों। उसकी प्रत्येक कोशिश जीवन से, सहीपन से, स्पन्दित थी। सतत् परिवर्तनशील, सतत् अक्षुण्ण और हमेशा पूर्ण।

उस दिन अपने आनंद में, मैंने सोचा कि मेरी तलाश समाप्त हो गई है, मेरा लक्ष्य मैंने हासिल कर लिया है : मैंने सभी चीजों की स्पष्ट दृष्टि पा ली है, उसकी श्रेष्ठ विशुद्धता में। यह वही ‘सहीपन’ था जिसे मैंने अपने संब्रमित बचपन के बीच से समझना चाहा था, अपनी किशोरावस्था के वर्षों में जिसका बातचीतों, चर्चाओं, बहसबाज़ियों में भोर सुबह तक पीछा किया था, इस उम्मीद में कि उसकी झलक भर मुझे नज़र आ जाए। यह वही वन-मैदान था, जो खोया, खोजा और अब पहचान लिया गया था, इस बार सदा-सर्वदा के लिए। मेरे चहुँ ओर, ऊपर, पैरों तले सब कुछ बिल्कुल सही था, जन्म ले रहा था, जी रहा था, मर रहा था, और उस व्यवस्था में बिना क्रम तोड़े पुनर्स्थापित किया जा रहा था।

मैंने उन विशाल जड़ों को सस्नेह सहलाया, जो हत्येदार कुर्सी की तरह मुझे थामें हुई थीं और सोचने लगी कि शेष जीवन मुझे जंगल में ही बिताना चाहिए।

कारकूपी खोजी अभियान के बाद (जिसमें हमें कुछ हीरे सच में मिले) जब हम रसद

के लिए लॉस कैरीब्स की सुदूर छोटी चौकी पर लौटे, मैंने आइने में देखा कि मेरा वजन बढ़ गया है और जीवन में पहली बार मुझे दुबली-पतली महिला के बदले छरहरे बदन वाली स्त्री कहा जा सकता है। मैं खुद को अधिक ताकतवर, अधिक सक्षम और पहले की तुलना में कम भयभीत महसूस कर रही थी। मैं अपने प्यारे जंगल में फल-फूल रही थी। अभियान समाप्त होने पर मैं वहाँ कैसे रह सकूँगी, यह सोचने के लिए अब भी छह माह बाकी थे; व्यावहारिक समस्याओं का फिलहाल सामना करने की ज़रूरत नहीं थी।

पर जब ये महीने भी गुज़र गए, मैं वापस लौटने को तैयार थी। मेरा निखरता स्वास्थ्य मलेरिया से गिर चुका था और मेरा मनोबल माँस और हरी सब्जियों की भूख से ध्वस्त हो चुका था। मैं मेहनत से तलाशे हीरों में से एक दे संतरे के रस का एक गिलास पाने को भी तैयार थी। और अब मैं पहले से भी ज्यादा दुबली हो चुकी थी।

परन्तु घटना के साढ़े सात माह बाद, जंगल के सहीपन की मेरी दृष्टि पहले से भी अधिक विस्तृत थी। मैं टारिपन इण्डियनों को देख चुकी थी। केवल उन दो को नहीं जिन्हें हमने यात्रा के दौरान नौकरी दी थी, बल्कि पूरे कुनबों, झोंपड़ियों में बसे परिवारों, यात्रा कर रहे समूहों, शिकार करते हुए, अपने आवास स्थान में बिना किसी बाहरी सहायता के जी रही एक प्रजाति के रूप में जीवन यापन करते, देख चुकी थी। बाहरी सहायता के नाम पर सिर्फ इतना हुआ था कि उनके पत्थर के छुरों और कुल्हाड़ियों का स्थान अब स्टील के छुरों और कुल्हाड़ियों ने ले लिया था। मैंने जितने लोगों को पहले कहीं भी देखा था, उनसे ये इण्डियन अधिक खुशामिज़ाज थे, पर इस तथ्य पर मैंने तब गौर ही नहीं किया था। वे हमसे बहुत भिन्न थे, आकार में छोटे, कम माँसल, फिर भी वे हममें से सबसे मजबूत व्यक्ति से अधिक बोज़, हमसे ज्यादा दूरी तक ले जा सकते थे। मैंने यह तक नहीं सोचा कि आखिर ऐसा क्यों है। उनके सोचने का तरीका भी हमसे अलग था। (“पाड़ाकपाह जाने के लिए” हममें से कोई पूछता, “क्या हम कनो (नौका) से नदी पर बढ़े या पैदल चलें?” उनमें से एक इण्डियन उत्तर देता “हाँ”) मुझे बिरले ही यह स्पष्ट आभास हुआ होगा कि वे भी हमारी ही प्रजाति के लोग हैं, हालाँकि अगर कोई मुझसे पूछता तो मैं बेहिचक यही उत्तर देती। उनके सभी बच्चों का आचरण अच्छा था : वे कभी लड़ते नहीं थे, उन्हें कभी सज़ा नहीं दी जाती थी, वे हमेशा बखुशी और तत्काल आज्ञा पालन करते थे। बच्चों की निन्दा का यह मुहावरा कि “छोकरे तो छोकरे

ही रहेंगे” उन पर लागू नहीं होता था। पर मैंने खुद से यह कभी नहीं पूछा कि ऐसा क्यों है। मेरे मन में इस बात को लेकर कोई शंका नहीं थी कि जंगल सही था, न ही इसको लेकर कि जो कुछ मैं तलाश रही थी, उसे वहीं ढूँढा जा सकता है। परन्तु जंगल की पारिस्थितिकी, पेड़-पौधे, पशु, इण्डियन; सब मिलकर स्वतः मेरे लिए एक उत्तर, एक व्यक्तिगत समाधान नहीं थे, जैसा मैंने प्रारंभ में मान लिया था।

पर यह बात उस समय स्पष्ट नहीं हुई थी। मुझे शर्म आती थी कि पालक, संतरे का रस और बाकी चीजों की मेरी ललक बढ़ती जा रही है। मेरे मन में विशाल, लापरवाह वन के लिए एक जंगली रूमानी प्रेम था, और उसे छोड़ते समय मैं वापस लौटने के उपायों पर विचार करने लगी थी। सच्चाई तो यह थी कि मैं अपने लिए उस सहीपन को तलाश ही नहीं पाई थी। मैंने उसे बस बाहर से देखा और किसी तरह पहचाना भर था, और वह भी केवल एक सतही तौर पर। किसी कारण जो इतना स्पष्ट था उसे में देख नहीं पा रही थी : कि इण्डियन भी मेरी ही तरह इन्सान हैं और जंगल के सहीपन में भागीदार होने के कारण सार्विक हर भी, मेरे इर्दगिर्द जो सामंजस्य था और जिसकी मुझे चाहना थी उसके बीच जुड़ाव की कड़ी वे ही थे।

बेशक सभ्यता से अंधे हुए मेरे दिमाग में प्रकाश की कुछ नन्ही किरणें अवश्य जगमगाई थीं : उदाहरण के लिए काम की अवधारणा से संबंधित कुछ बातें। हमने एल्यूमिनियम से बनी अपनी कुछ ज्यादा ही छोटी नाव को एक तराशकर बनाई गई ज्यादा ही बड़ी नाव से बदल लिया था। इस नाव में, जो अकेले एक ही पेड़ से तराशी गई थी, एक बार सतरह इण्डियनों ने हमारे साथ यात्रा की थी। हमारे और उनके सामान और सभी सवारियों के बैठने के बावजूद नौका खाली लग रही थी। इस बार केवल चार या पाँच इण्डियनों की मदद से उसे एक बड़े जल प्रपात के पास स्थित आधा मील लंबी चट्टान के पार खींच ले जाने का विचार ही दिल बैठाने वाला था। इसका मतलब था कि नौका के नीचे लगातार लट्ठे बिछाते जाना, और उसे चिलचिलाती धूप में इंच दर इंच घसीटना, चट्टानों के बीच की दरारों में तब फिसल कर गिरना जब नाव अनियंत्रित हो जाए, और टखनों-घुटनों या जिस भी अंग की तरफ गिरो उसका कठोर ग्रेनाइट से छिलना। यह सब हम छोटी नौका और दो इण्डियनों के साथ पहले भी कर चुके थे इसलिये मैं आगामी दिनों के कठोर श्रम और पीड़ा की कल्पना से ही चिंतित थी। जिस दिन हम ओरपूची जल प्रपात

पर पहुँचे हम सब तकलीफ झेलने को तैयार थे और मलिन चेहरों के साथ, तथा प्रत्येक पल से घृणा करते हुए, हम नाव को चट्टानों पर से घसीटने चल पड़े।

नौका इतनी भारी थी कि जब किसी एक ओर झुक जाती तो हममें से कोई एक तपती चट्टान पर उसके नीचे तब तक दबा रहता, जब तक बाकी उसे वापस खींचकर सीधा न कर लेते। चौथाई दूरी ही पार की होगी कि सबके टखनों से खून बहने लगा। आंशिक रूप से एक मिनट विश्राम करने के लिए मैं एक ऊँची चट्टान पर कूदी, ताकि उस दृश्य का फोटो ले सकूँ। उस ऊँचाई से और उस क्षण काम से दूर होने के कारण मैं एक बेहद रोचक तथ्य पर गौर कर सकी। वहाँ मेरे सामने कई पुरुष एक ही काम में जुटे थे। दो, इतालवी पुरुष, तनावग्रस्त थे, उनकी भौंहे तनी थीं, वे सभी पर गरमा रहे थे और टस्कनी वासियों की शैली में लगातार गालियाँ बक रहे थे। शेष, इण्डियन पुरुषों को मज़ा आ रहा था। वे नौका के असुविधाजनक आकार पर हंस रहे थे, उससे संघर्ष को उन्होंने एक खेल बना डाला था, धकियाने के बीच के पलों में भी वे तनाव मुक्त थे, और अपने खरोंचों पर हंस रहे थे। खासकर तब, जब नाव डगमगाती और उनमें से कोई उसके नीचे दब जाता। जो खुली पीठ वाला व्यक्ति तपती ग्रेनाइट की चट्टान पर दबता, वह जैसे ही फिर से साँस लेने की स्थिति में लौटता सबसे ज्यादा ज़ोर से हँसता, अपनी राहत का मज़ा लेते हुए।

सभी एक समान काम कर रहे थे, सभी दबाव और पीड़ा का अनुभव कर रहे थे। हमारी स्थितियों में कोई विशेष अंतर नहीं था, सिवा इसके कि हमारी संस्कृति ने हमें यह मानने को कुछ इस प्रकार अनुकूलित कर दिया था कि ऐसी परिस्थितियों का मिश्रण कुशलक्षेम को मापने के तराजू में निश्चित रूप से नीचे है और हम इस तथ्य से भी अनभिज्ञ थे कि इस मामले में हमारा कोई निजी मत भी है।

इसके विपरीत, वे इण्डियन जो किसी चयन के प्रति सचेत नहीं थे, खासतौर से खुशानुमा मनःस्थिति में थे, जो उनके भाईचारे में नज़र आ रहा था। साथ ही उनके मन में पहले से ही तकलीफ की कल्पना कर डर नहीं बैठ गया था। उनके लिए आगे बढ़ने का हरेक चरण एक छोटी जीत थी। फोटोग्राफी समाप्त कर जब मैं टोली में वापस मिली तो मैंने सभ्य चयन से बाहर निकलने और शेष काम का मज़ा लेने का निर्णय लिया। इसके बाद मुझे जो भी चोटें और खरोंचे लगीं, वे महत्व में कमतर हो ठीक उतनी ही

गौण बन गई, जितनी वे दरअसल थीं। ऐसी छोटी चोटें, जो जल्द ही ठीक हो जाएँ और जिनके लिए न तो उस असुखद भावनात्मक प्रतिक्रिया जैसे क्रोध, आत्मदया, या वैमनस्य की ज़रूरत थी, न ही इस भय की कि नाव को घसीटना पूरा करने के पहले कितनी चोटें और लगेंगी। इसके विपरीत मैंने पाया कि मैं अपने शरीर की श्रेष्ठ संरचना के बारे में सोचने लगी थी जो मेरे आदेशों या निर्णयों के बिना ही स्वयं को दुरुस्त कर लेगा।

पर मुक्ति का यह भाव जल्दी ही आदत के अत्याचार के समक्ष, सांस्कृतिक अनुकूलन के ऐसे भारी वजन के समक्ष, झुक गया, जिसका विरोध केवल सतत् सचेतन प्रयास से ही किया जा सकता है। मैंने वह आवश्यक प्रयास किया ही नहीं, सो मैं अभियान से उस उद्घाटन के किसी लाभ के बिना ही लौटी।

मानवीय प्रकृति और काम के विषय में एक अन्य संकेत मुझे बाद में मिला।

दो इण्डियन परिवार एक अद्भूत सफेद तट पर चट्टानों के एक चौड़े नव-चंद्राकार समुद्रताल (लैगून) के पास बनी एक झोंपड़ी में रहते थे, जिसके पार करोनी तथा ओरपूची प्रपात थे। एक कुलपिता का नाम पेपे था व दूसरे का सीज़र। यह कहानी पेपे ने सुनाई थी।

हुआ यों था कि सीज़र को वेनेजुएलावासियों ने तब गोद ले लिया जब वह बहुत छोटा था और वह उनके साथ रहने एक छोटे कस्बे में चला गया था। उसे वहाँ स्कूल भेजा गया, उसने पढ़ना-लिखना सीखा और उसका पालन-पोषण वेनेजुएला के लोगों की तरह किया गया। बड़े होने पर गुएनी कस्बों के अन्य पुरुषों की तरह ही वह भी ऊपरी करोनी क्षेत्र में हीरों की खोज में भाग्य आजमाने के लिए लौटा। वह वेनेजुएलावासियों की एक टोली के साथ काम कर रहा था कि गुवायापारू में ताउरिपन मुखिया मुन्डो ने उसे पहचान लिया।

“क्या तुम्हें होसे ग्रान्डे के साथ रहने के लिए नहीं ले जाया गया था ?” मुन्डो ने पूछा।

कथा के अनुसार सीज़र ने कहा “मुझे होसे ग्रान्डे ने पाला-पोसा है।”

“तो फिर तुम अपने ही लोगों के बीच लौट आए हो। तुम ताउरिपन हो, मुन्डो ने कहा।

इस पर सीज़र ने काफी सोचा-विचारा और तय किया कि एक वेनेजुएलन के बजाए एक इण्डियन के रूप में जीना बेहतर होगा और वह आरेपूची चला आया जहाँ पेपे रहता था।

पाँच साल तक सीज़र पेपे के परिवार के साथ रहा, एक सुंदर ताउरिपन स्त्री से शादी की और एक नन्ही का पिता बना। क्योंकि सीज़र को काम करना नापसंद था, वह उसकी पत्नी और बच्ची पेपे के खेतों में उगा खाना खाते। सीज़र को यह जान बेहद खुशी हुई कि पेपे उससे यह उम्मीद नहीं रखता कि वह ज़मीन साफ कर अपना खेत-बाग बनाए या काम में पेपे की मदद करे। पेपे को काम करने में मज़ा आता था और सीज़र को नहीं इसलिए यह व्यवस्था सबको रास आई।

सीज़र की पत्नी अन्य स्त्रियों और बालिकाओं के साथ मिल सबके खाने के लिए कसावा काटने और पकाने का काम करती, पर सीज़र को सिर्फ तापीर या अन्य पशुओं का शिकार करना ही पसंद था। दो-एक साल में उसे मच्छीमारी का शौक चढ़ा और वह जो भी मछली पकड़ता उसे पेपे और उसके दो बेटों द्वारा पकड़ी मछलियों में मिला देता। पेपे को भी मछली पकड़ने का शौक था और जो सीज़र के परिवार को हमेशा अपने परिवार की तरह ही सहृदयता से मछली उपलब्ध करवाता रहा था।

हमारे आने के कुछ ही पहले सीज़र ने अपने बगीचे के लिए ज़मीन साफ करने का निर्णय लिया था और पेपे ने स्थान चुनने से लेकर पेड़ काटने और जलाने तक के सभी कामों में सीज़र की मदद की थी। पेपे को काम करने में और भी मज़ा इसलिए आया क्योंकि वह और उसका मित्र सीज़र पूरे समय हंसी-मज़ाक और गपशप करते रहते थे।

पाँच वर्ष तक निश्चित रहने के बाद सीज़र को समझ आ गया था कि उसे किसी परियोजना में कोई धकेल नहीं रहा और वह काम का मज़ा उठाने के लिए उतना ही मुक्त था, जितना पेपे या कोई अन्य इण्डियन।

आरेपूची में सब खुश थे, पेपे ने बताया, क्योंकि सीज़र असंतुष्ट और खीझ भरा बनने लगा था। “वह अपना बाग बनाना चाहता था”, — पेपे हँसा — “पर उसे खुद इसका इल्म ही नहीं था!” पेपे को यह बेहद हास्यापद लगा था कि किसी को यह पता ही न हो कि वह दरअसल काम करना चाहता है।

जिस समय मुझे ये कुछ संकेत मिले मुझे यह नहीं सूझा कि सभ्यता में पले हम लोग मानव प्रकृति के विषय में कुछ बेहद गंभीर गलतफहमियों के शिकार हैं। इन संकेतों



ने इस विषय पर कोई सामान्य सिद्धान्त भी नहीं सुझाए। हालाँकि मैं तब यह समझ ही नहीं पाई कि मैं आखिर जानना क्या चाहती थी, या मेरे मन में यह विचार तक नहीं उठा था कि मैं एक तलाश में जुटी हुई हूँ। फिर भी मैं यह पहचान गई कि मुझे एक ऐसा पथ मिल गया है, जो अनुकरणीय है। आगामी कुछ वर्षों तक मुझे सही दिशा में बढ़ाने के लिए इतना ही काफी था।

छह सप्ताह बाद हिस्पानी बोलने वाले वेनेजुएला क्षेत्र की यात्रा के जिस दूसरे अभियान में मैं जुड़ी उसका नेतृत्व एक अन्य इतालवी सज्जन कर रहे थे। इन प्रोफेसर साहब का मानना था कि जंगल में लड़कियों का कोई काम ही नहीं है। मेरे पहले के साझेदारों में से एक ने इसके बावजूद मेरे लिए उनकी अनिच्छा भरी अनुमति पा ली और मैं येक्वुआना तथा सनेमा कबीलों के पाषाणकालीन दुनिया के पथ पर बढ़ सकी। ये कबीले बाहरी दुनिया से इसलिए अछूते बच गए थे क्योंकि वे ब्राजील की सीमा के निकट ऊपरी कौरा नदी क्षेत्र के 'अभेद्य' बरसाती जंगलों में बसे थे।

यहाँ के पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के व्यक्तिगत व्यक्तित्व भी स्पष्ट थे क्योंकि उनको अजनबियों के सामने रक्षात्मक भावशून्यता का मुखौटा विकसित करने की ज़रूरत नहीं पड़ी थी, जैसा ताउरिपनों को पड़ी थी। परन्तु इस नितांत विदेशी भूमि में मेरा ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं जा पाया था कि इन लोगों का जो अवास्तविक गुण था वह दुख की नामौजूदगी के कारण था, वही दुख जो प्रत्येक उस समाज का घटक होता है, जिससे मैं परिचित थी। यह अस्पष्ट सा विचार मेरे मन में ज़रूर रहा होगा कि वहाँ पेड़ों के पीछे, नज़रों से ओझल सेसिल बी. डे. मिले का भूत, हॉलीवुड की एक आयामी, शास्त्रीय जंगली शैली के चलचित्र का निर्देशन कर रहा है। मानवीय आचरण के तथाकथित 'नियम' इन कबीलाई लोगों पर लागू नहीं किए जा सकते थे।

तीन सप्ताह तक, जिस दौरान मेरे साझीदारों ने कहा कि उन्हें पिग्मियों के एक बड़े जत्थे ने अपना पालतू जीव बना रोके रखा, मैं येक्वुआना लोगों के साथ अकेली रही। इस छोटी-सी अवधि में मैं तमाम उन धारणाओं को भूली जिनके सहारे मैं पाली-पोसी गई थी। प्रथम अभियान की समूची अवधि में जो नहीं हो पाया था वह इस संक्षिप्त से समय में हुआ। मुझे भूलने की प्रक्रिया (अनलर्निंग प्रोसेस) का मूल्य नज़र आने लगा।

काम के संबंध में एक वैकल्पिक दृष्टिकोण के कई विचार भी मेरे पूर्वाग्रहों की सतहों को भेद मेरे मस्तिष्क में पैठने लगे।

इनमें एक तो यह था कि येक्वुआना शब्दावली में “काम” के लिए कोई शब्द ही नहीं था। उनका एक शब्द था “ताराबहो” जिसका प्रयोग वे गैर-इण्डियनों के साथ लेनदेन के लिए करते थे। परन्तु हमारे अलावा अन्य गैर-इण्डियनों से वे कभी मिले नहीं थे, उन्होंने उनके बारे में सुना भर था। यह शब्द हिस्पानी भाषा के ‘ताराबाजो’ का मूल उच्चारण था और उसका तात्पर्य सटीक अर्थ में वही था जिस अर्थ में कॉन्क्विस्टाडोर्स (हराने वाले) और उनके वंशज करते थे। मैंने गौर किया कि मेरे द्वारा उनसे सीखे तमाम शब्दों में हिस्पानी भाषा से लिया गया यही एकमात्र शब्द था। लगा यह कि येक्वुआना लोगों में काम को लेकर हमारे समान कोई अवधारणा ही नहीं थी। काम में शामिल की जा सकने वाले प्रत्येक गतिविधि के लिए शब्द थे, पर कोई सर्वविनियोज्य (जेनेरिक) शब्द नहीं था।

अगर ये लोग काम और समय बिताने के तमाम अन्य तरीकों में अंतर नहीं करते, तो फिर क्या आश्चर्य कि वे पानी लाने को लेकर इतना विवेकशून्य आचरण (उस समय मुझे लगा) करते हैं। कबीले की स्त्रियाँ दिन में कई-कई बार, दो-तीन खाली तुम्बियाँ ले पहाड़ से कुछ नीचे उतरतीं और तब एक पौने ढलान से, जो गीला होने पर बेहद फिसलन भरा होता था, नीचे उतर एक उपनदी से पानी भरतीं। और फिर गाँव को लौटने ऊपर चढ़तीं। इस प्रक्रिया में लगभग बीस मिनट लगते। कई स्त्रियाँ यह करते समय तुम्बियों के अलावा अपने शिशुओं को भी साथ ले जातीं।

जब मैं पहली बार उनके साथ गई, तो मुझे लगा कि जिस चीज़ की लगातार ज़रूरत पड़ती है, उसके लिए इतनी दूर पैदल जाना बड़ी भारी असुविधा है। मुझे समझ ही नहीं आया कि उन्होंने गाँव का स्थान ऐसी जगह क्यों नहीं चुना होगा जहाँ पानी पास में हो। नदी के किनारे तक जाने वाले रास्ते के आखिरी हिस्से ने मुझे चिंता से तनावग्रस्त कर दिया था, क्योंकि वहाँ एक-एक कदम सावधानी से रखना पड़ता था ताकि फिसल न जाएँ। बेशक, येक्वुआना लोगों में बेहतर संतुलन था और उत्तर-अमरीकी इण्डियनों की ही तरह उन्हें चक्कर भी नहीं आते। पर सच तो यह था कि न वे ना ही मैं चलते समय फिसले और केवल मैं ही थी जिसे चलने पर इतनी सावधानी बरतना बुरा लगा। वे स्त्रियाँ भी अपने

कदम उतनी ही सावधानी से रख रहीं थीं पर वे मेरी तरह सावधानी बरतने की “कठिनाई” से भौंहे नहीं सिकोड़ रही थीं। वे गपशप करती, कोमल स्वर में एक-दूसरे से हंसी-मजाक करती चल रही थीं, चाहे रास्ता समतल हो या ढलान वाला। क्योंकि वे हमेशा दो, तीन या अधिक के समूहों में जाती थीं, और ‘माहौल’ हमेशा पार्टी का सा होता।

एक दिन प्रत्येक महिला ने अपनी तुम्बियाँ और कपड़े (एक छोटा एप्रननुमा कैचे-सैम्से, अपने टखने, घुटनों, कलाई, बाजू, गले और कान के मनकों) उतार कर तट पर रखे और खुद को व अपने शिशु को नहलाया। इसमें जितनी भी स्त्रियों या बच्चों ने भागीदारी क्यों न की हो इस स्नान में विलासित का रोमन गुण मौजूद था। उनका प्रत्येक कृत्य ऐंद्रिक आनंद का बयान करता था और बच्चों को ऐसी अद्भुत वस्तुओं की तरह स्पर्श किया गया जिनके मालिक अपने सुख और गर्व को छिपा ही न पा रहे हों। पहाड़ी से नीचे उतरने का काम भी उसी चिर-परिचित आत्मतुष्ट शैली से किया गया मानो उन्हें श्रेष्ठ की ही आदत हो। और नदी किनारे के अंतिम कदम इस तरह रखे गए मानों विश्व सुंदरी अपने ताज का दावा करने बढ़ रही हो। यह बात मैंने प्रत्येक येक्वुआना स्त्री और बालिका में देखी, हालाँकि उनके भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व उनकी सहजता को एक विशिष्ट अभिव्यक्ति भी दे रहे थे।

चिंतन करने पर मुझे कम से कम कुशलक्षेम की दृष्टि से पानी लाने जाने के समय का इससे “बेहतर” उपयोग सूझा ही नहीं। परन्तु इसके विपरीत अगर मानदण्ड प्रगति का होता, या प्रगति की सेविकाओं, अर्थात् गति, कार्यकुशलता और नवीनता का, तो फिर पानी लाने की ये पैदल यात्राएँ निश्चित रूप से बेवकूफी भरी थीं। परन्तु इन लोगों की रचनात्मकता का मेरा अनुभव ऐसा था कि मुझे कोई शंका नहीं थी कि अगर मैंने यह इच्छा ज़ाहिर की होती कि मुझे नदी तक जाना न पड़े, तो वे बाँस की नलियों की मदद से पानी लाने का कोई यंत्र बना देते। या फिसलने से बचाने के लिए कोई घिरनी लगा देते या तट पर ही मेरे लिए एक झोंपड़ी बना देते। पर उनकी उत्प्रेरणा प्रगति की नहीं थी, उन्हें कोई आवश्यकता या स्वयं पर किसी ओर से कोई दबाव महसूस नहीं हुआ था, जिसके चलते वे अपने तौर-तरीके बदलें।

मुझे अपने पर्याप्त समन्वय का उपयोग करना ज़हमत लगता था। या फिर मैं बिना

छानबीन किये गढ़े गए सिद्धान्त के आधार पर खिझती थी। स्थिती जो भी रही हो, मेरी ऐसी प्रतिक्रिया दरअसल उन लोगों पर ऐसे मूल्य थोपना था जो उनकी संस्कृति में थे ही नहीं।

काम के संबंध में एक अन्य अंतर्दृष्टि मुझे अवलोकन के बजाए अनुभव से मिल सकी। अंछू, जो येक्वुआना ग्राम के मुखिया थे, उन्होंने मौका मिलते ही अधिक खुश आचरण की दिशा में मेरा मार्गदर्शन करना प्रारंभ कर दिया। मैंने एक काँच के आभूषण को सात गन्नों के एवज़ में दे दिया था, और मैं विनिमय के संबंध में एक पाठ को आत्मसात करने की दिशा में बढ़ रही थी, जिसका उल्लेख मैं बाद में करूँगी। यह विनिमय तकनीक उन लोगों की है जिनके लिए पाए गए सौदे से अधिक महत्वपूर्ण हैं अच्छे संबंध। अंछू की पत्नी पास ही स्थित उनकी एकाकी कुटिया की ओर चल पड़ी, और अंछू व एक सनेमा, जो उसका सेवक लगता था और मुझे दो पहाड़ों के बाद तीसरे पर स्थित गाँव को लौटना था। सातों गन्ने धरती पर पड़े थे जहाँ अंछू की पत्नी उन्हें रख गई थी। अंछू ने सनेमा वीर से तीन गन्ने उठाने को कहा, और स्वयं भी तीन अपने कंधे पर धरे और धरती पर एक गन्ना पड़ा रहने दिया। मैंने उम्मीद की थी कि पुरुष ही सारे गन्ने उठाएँगे, और तब अंछू ने अंतिम गन्ने की ओर संकेत करते कहा 'अमादेह' – तुम। मैं पलभर को इस विचार से नाराज़ हो गई कि मुझे ऊँची चढ़ाई वाले रास्ते पर कुछ उठा कर ले जाने की आज्ञा दी गई है, जबकि उस काम को करने के लिए तो दो ताकतवर पुरुष मौजूद हैं। पर ऐन वक्त पर मुझे याद आया कि देर-सबेर पता यह चलता था कि अंछू ही हर विषय में सही सिद्ध होता है।

मैंने गन्ना कंधे पर टिकाया और क्योंकि अंछू मेरे चलने का इंतज़ार कर रहा था, मैं पहली चढ़ान पर सबसे आगे निकली। वापसी की चढ़ाई का जो डर पहाड़ उतरते समय ही बोझिल लग रहा था और अंछू के घर पर दोपहरी का खाना खाते समय और गन्ने के खेत में गहराया था, अब इस समाचार से और भी सघन हो गया कि मुझे एक गन्ना उठा कर ले जाना होगा। मेरे पहले कदम उस थकान के विचार के बोझ से और भारी लगे जो मुझे जंगलों में पैदल चलते समय अनुभव होता था, खासकर तब जब रास्ता चढ़ान का हो और मुझे ऐसा कुछ उठाना पड़े जिससे मेरे हाथ मुक्त न रहें।

परन्तु अचानक ही वह अतिरिक्त बोझ गायब हो गया। अंछू ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया कि मुझे तेज़ चलना चाहिए, या अगर मैं आरामदायक गति से चलूँगी तो मेरी

प्रतिष्ठा आहत होगी, कि मेरे कार्य प्रदर्शन से मुझे आँका जा रहा है या रास्ते में लगने वाला समय पहुँचने के बाद के समय से कम वांछनीय है।

मेरे गोरे साथियों के साथ ऐसी ही स्थितियों में जल्दबाजी हमेशा एक घटक रहा था, साथ ही मुझे पुरुषों से होड़ करने की चिंता भी हुआ करती थी ताकि मेरे स्त्री होने की प्रतिष्ठा को ठेस न पहुँचे। इसके अलावा इस धारणा को भी मैंने कभी चुनौती नहीं दी थी कि चलने का अनुभव कष्टदायक होगा ही क्योंकि वह व्यक्ति के शारीरिक क्षमता और नैतिक दृढ़ता की परीक्षा लेगा। परन्तु इस बार अंछू तथा सनेमा वीर के भिन्न आचरण ने इन तत्वों को हटा दिया और मैं जंगल में कंधे पर एक गन्ना उठाए सिर्फ चलने लगी। स्पर्धा का भाव गायब हो गया और वह शारीरिक श्रम शरीर पर बोझ के बदले उसके सशक्त होने के संतोषजनक सबूत में तब्दील हो गया। आत्मबलिदान के समक्ष जो दांत-भींचू इच्छाशक्ति मैं काम में लेती थी उसका मुझे इस्तेमाल ही नहीं करना पड़ा।

तब मेरी इस मुक्ति में एक नया सुख आ जुड़ा : यह चेतना जगी कि मैं केवल एक गन्ना नहीं उठाए हूँ बल्कि तीन साथियों के बोझ का एक हिस्सा उठाने में शिरकत कर रही हूँ। मैंने दल 'भावना' (टीम स्पिरिट) का जुमला इतनी बार सुन रखा था कि उसका कोई अर्थ बच ही नहीं पाया था, सिवा स्कूल या ग्रीष्म शिविर में किए जाने वाले ढोंग के। अपनी व्यक्तिगत स्थिति मैंने हमेशा ही खतरे में पाई थी, लगता था कि मुझे देखा जा रहा है, आँका जा रहा है। स्पर्धा के उलझाव में किसी साथी के साथ साझेदारी में काम करने का सीधा-सादा धंधा ही खो जाता था। अपनी ताकत को दूसरों के साथ जोड़ देने पर जो आदिम सुख की भावना जगती है, उसे उठाने का कोई मौका मिला ही नहीं था।

लौटते समय जिस गति और आराम के साथ मैं चली उसने मुझे अचंभित कर दिया। सामान्यतः पसीने से तरबतर और अपनी सीमाओं को धकेलने के बावजूद मैं इससे अधिक तेजी से चल नहीं पाती। शायद मुझे इण्डियनों के उस रहस्य की झलक मिल रही थी जिसके चलते वे अपनी कमतर माँसपेशीय शक्ति के बावजूद हमारे सुपोषित बलिष्ठों को भी पछाड़ देते हैं। वे अपनी शक्ति को संबंधित तनावों पर ज़ाया करने के बदले, उसका उपयोग सिर्फ काम को निबटाने में करते हैं।

मुझे पहले अभियान के समय ताउरिपनों के आचरण पर हुए अचरज की याद आ गई जब वे पीठ पर पिचहत्तर पाउण्ड का बोझ उठाए, नदी पर इस पार से उस पार बिछे

एक अकेले लट्ठे के पुल को सावधानी से पार कर रहे होते। अचानक किसीको कोई मज़ाक याद आता, वह लट्ठ के बीचों-बीच रुकता, मुड़ता और बढ़ते चले आ रहे साथियों को रोक मज़ाक सुनाने लगता, और तब वह और उसके साथी अपनी विचित्र संगीतमय हँसी हँसते हुए आगे बढ़ जाते। मुझे कभी यह सूझा ही नहीं कि वे उस स्थिति में हमारी तरह स्वयं को पीड़ित नहीं महसूस करते, अतः उनकी हँसी-ठिठोली मुझे बड़ी अजीब, लगभग पागलपन-सी लगती। (दरअसल यह बीच रात, जब सब सो रहे हों, तब कोई चुटकुला सुनाने की आदत के समान ही थी। हालाँकि कुछ लोग ज़ोर-ज़ोर से खर्कटे भर रहे होते, वे भी तत्काल पूरी तरह चेतन हो जग जाते, हँसते, और कुछ ही क्षणों में फिर सो जाते, अपने खर्कटों समेत। उन्हें यह नहीं महसूस होता था कि जगना, सोने से अधिक तकलीफदेह है और वे जगते तो पूरी तरह चैतन्य होते, जैसे उस समय जब सभी इण्डियनों ने जंगली सूअरों के एक झुंड को काफी दूर से एक साथ सुन लिया था। उस समय वे सो रहे थे, पर मैं जगी थी और अपने इर्दगिर्द के जंगल की ध्वनियों को सुन रही थी इसके बावजूद मुझे कुछ पता नहीं चला था।) अधिकांश यात्रियों की तरह मैंने उनके अपरिचित व्यवहार को बिना समझे ही देखा था और मानवीय स्वभाव की उनकी और हमारी अभिव्यक्ति के फासले को दूर करने की कभी चेष्टा नहीं की थी।

पर उस दूसरे अभियान में मुझे बंद विषयों को खोलने पर आने वाले नए विचारों का चस्का लग चुका था, जैसे “प्रगति अच्छी है”, “मनुष्य को ऐसे नियम ज़रूर बनाने चाहिए जिनके अनुसार वह जिए” “एक बालक अपने माता-पिता का होता है”, “आराम काम से अधिक सुखद है।”

तीसरा और चौथा अभियान जो मेरे नेतृत्व में आयोजित हुए, एक चार माह लंबा और दूसरा नौ माह का, मुझे उसी क्षेत्र में वापस ले गए, और वह प्रक्रिया जारी रही। मेरी यात्रा दैनंदिनीयाँ दर्शाती हैं कि सीखे हुए को भूलने की मेरी तकनीक मेरा दूसरा स्वभाव बनने लगी थी। परन्तु अन्य व्यापक अप्रशिनत पूर्व-धारणाएँ जिन पर मेरी अपनी संस्कृति, मानव की स्थिति के बारे में अपना नज़रिया आधारित करती थी, उन्हें जाँचने में मुझे बहुत लम्बा समय लगा। इसमें ऐसे विचार शामिल थे कि दुख अनुभव का उतना ही वैध हिस्सा है जितना सुख, तथा सुख को सही तरह से समझने पाने के लिए दुख का होना आवश्यक है या यह कि जवान होना वृद्ध होने से अधिक लाभदायक है।

मेरी चौथी यात्रा के बाद मैं न्यू यॉर्क लौटी तो मेरी खोपड़ी उस सबसे भरी थी, जो मैंने देखा था। मेरा दृष्टिकोण पूर्वमान्यताओं से इस कदर छलनी हो चुका था मानो बेहद मेहनत-मशक्कत के बाद कोई शून्य पर पहुँचा हो। मैंने अपने अवलोकनों को किसी जिगसाँ पहेली के टुकड़ों की तरह पकड़े रखा, उन्हें जोड़ने से डरती रही। इसलिए क्योंकि मुझे अब तक आदत यह पड़ चुकी थी कि जो कुछ भी सामूहिक आचरण के रुझान-सा लगे, ऐसे रुझान जो मानव प्रकृति के सिद्धान्त का ढोंग करते थे, उसे मैं चीर-फाड़ कर देखने लगी थी।

जब एक संपादक ने मुझे एक लेख लिख, द न्यू यॉर्क टाइम्स में उद्धृत मेरी एक टिप्पणी को स्पष्ट करने को कहा, तब कहीं जाकर मैंने ध्वंस की इस प्रक्रिया को उलटा। क्रमशः मैं उस व्यवस्था को देखने लगी जो न केवल मेरे दक्षिण अमरीकी अनुभव के तले थी, बल्कि उन नग्न खण्डों को भी जिनमें मैंने सभ्य जीवन के अपने अनुभव को टुकड़े-टुकड़े किया था।

इसके बावजूद उस समय मेरे पास कोई सिद्धान्त नहीं था। पर अब खुली आँखों से आसपास देखने पर, मैं पहली बार अपने इर्दगिर्द के व्यक्तियों की कुछ विकृतियों को देख पाई और उन ताकतों को भी कुछ-कुछ समझने लगी जो इन विकृतियों को पैदा करते हैं। तकरीबन सालभर बाद मैं मानवीय अपेक्षाओं और प्रवृत्तियों के क्रमिक उद्भव को भी पहचानने लगी, जो मेरे सुसभ्य परिचितों की तुलना में मेरे जंगली मित्रों में कुशलक्षेम की उच्च स्थिति को स्पष्ट करते थे।

इन विचारों की चर्चा एक पुस्तक में करने से पहले मुझे एक पाँचवा अभियान करना आवश्यक लगा जिससे मैं हाल ही में लौटी हूँ। मैं येक्वुआना लोगों को एक बार फिर से देखना चाहती थी। इस बार अपने दिमाग में गढ़े गए नए दृष्टिकोणों के सहारे। यह जाँचने के लिए कि क्या मेरे अवलोकन केवल संस्मरणात्मक होने के कारण प्रमाण का एक निकाय गढ़ते हैं या फिर उन अवलोकनों का सदुपयोग एक सायास अध्ययन द्वारा पुष्ट किया जा सकता है।

जिस हवाई पट्टी को दूसरे अभियान के लिए तैयार किया गया था और जिसका तीसरे व चौथे अभियानों में भी इस्तेमाल किया गया था, वहाँ अब एक मिशन गृह तथा मौसम केन्द्र बन गया था, पर दोनों ही परित्यक्त थे। येक्वुआना लोग, कुछ सदस्यों द्वारा

शर्ट तथा पैंट पा लेने के बावजूद बदले नहीं थे। यह तथ्य आश्वासित करता था। उनके पड़ौसी सनेमा भी रोग के कारण संख्या में आई गिरावट के बावजूद अपनी प्राचीन व सिद्ध जीवन शैली पर दृढ़ थे।

दोनों ही कबीले बाहरी दुनिया की सौगातों के लिए काम करने या वस्तुओं की अदला-बदली करने को तैयार थे, पर अपने दृष्टिकोण, परंपराओं या जीवन के तरीकों का सौदा करने को कतई अनिच्छुक थे। कई शॉटगनों और कुछ फ्लैशलाइटों ने उनके स्वामियों के मन में बारूद, गोलियाँ, बंदूक की टोपी और बैटरियों की कुछ इच्छा जरूर जगाई थी पर इतनी नहीं कि वे कोई ऐसा काम करने लगें, जिसमें उन्हें मज़ा ही न आता हो या जब काम उबाऊ बन जाए तब भी वे उसे करते चलें।

कुछ जानकारियाँ, जो सामान्य अवलोकन में पकड़ी नहीं जा सकी, जैसे अपने माता-पिता की यौन क्रिया के दौरान बच्चे उपस्थित होते हैं या नहीं, प्रश्नों से प्राप्त की गई। साथ ही सवालों की मदद से अन्य सूचनाएँ जैसे ब्रह्माण्ड, मिथकों, शामनों के क्रिया कलाप पर उनके विचार, आदि भी एकत्रित की गई, जो उनकी उस संस्कृति के लिए प्रासंगिक हैं जो उनके स्वभाव के लिए इतनी सटीक है।

परन्तु पाँचवे अभियान ने मुख्यतः मुझे यह आश्वासन देने का काम किया कि उनके आचरण की जो व्याख्या मैंने अपने संस्मरणों से गढ़ी थी, उसकी पुष्टि वास्तविकता भी करती है। सच तो यह है कि दोनों कबीलों के इण्डियनों के जो कृत्य पहले रहस्यमय लगते थे, वे सातत्य के सिद्धान्तों के आलोक में देखने पर न केवल समझ आने लगे हैं बल्कि अक्सर उनकी भविष्यवाणी करना भी संभव हो गया।

मैंने ऐसे अपवादों की तलाश की जो मेरी तार्किकता में त्रुटियों का संकेत दें। पर मैंने पाया कि ये सभी अपवाद लगातार “नियम को ही सिद्ध” करते थे। जैसे कि उस शिशु के मामले में, जो सभ्य शिशु की तरह ही अपना अंगूठा चूसता था, शरीर को अकड़ा लेता था, या चीख-चीख कर रोता था। पर उस बालक ने कोई रहस्य सामने नहीं रखा। पता यह चला कि जन्म के कुछ ही समय बाद उसे मिशनरी ले गए थे और उसे आठ महीनों तक काराकास के अस्पताल में रखा गया था। जब तक कि उसका रोग ठीक न हो गया और उसे उसके परिवार को वापस लौटाना संभव न बन गया।



डॉ. रॉबर्ट कोल्स, बाल मनोवैज्ञानिक तथा लेखक को, एक अमरीकी फाउण्डेशन ने मेरे विचारों की समीक्षा करने को बुलाया। उन्होंने मुझसे कहा कि उन्हें “उस क्षेत्र के विशेषज्ञ” के रूप में आमंत्रित किया गया था पर “दुर्भाग्य से वह क्षेत्र अब तक अस्तित्व में ही नहीं है।” अतः न उन्हें न ही किसी अन्य व्यक्ति को उसका विशेषज्ञ माना जा सकता है। सातत्य की अवधारणा का मूल्यांकन उसके ही गुण-दोषों के आधार पर ही किया जा सकता है। यह जाँचा जा सकता है कि व्यक्ति की जिन आधी दबी इंद्रियों व क्षमताओं का वर्णन करने, उन्हें पुनर्स्थापित करने की चेष्टा यह अवधारणा करती है, दरअसल उन्हें वह छू भी पाती है या नहीं।

## 2

### सातत्य की अवधारणा

तकरीबन बीस लाख वर्षों से, उसी प्रजाति का पशु होने के बावजूद जिसके हम आज भी हैं, मानव सफल था। वह वानर से मानव के रूप में क्रमशः विकसित हुआ था। एक शिकारी-एकत्रक के रूप में, जिसकी जीवन शैली कुशल थी। अगर वह शैली बनी रहती तो कई लाख वर्षों तक कायम रहती। परन्तु आज स्थिति यह है कि अधिकांश पारिस्थितिकी वैज्ञानिक मानव की दैनिक गतिविधियों से इस बात से सहमत हैं कि आगामी एक शताब्दि तक भी उसके बचे रहने की संभावनाएँ कम होती जा रही हैं।

उन चंद हज़ार वर्षों में, जब से वह जीवन के उस पथ से बहका, जिसके लिए क्रमविकास ने उसे अनुकूलित किया था, मानव ने संपूर्ण पृथ्वी की प्राकृतिक व्यवस्था को तहस-नहस कर दिया। साथ ही मानव ने उस अत्यंत विकसित सद्बुद्धि को भी बदनाम कर दिया है, जो अनेकानेक युगों तक मानवीय आचरण का दिशादर्शन करती रही थी। इस तबाही का अधिकांश भाग हालिया शताब्दियों में, हमारी सहज सक्षमता को उखाड़ उसे विज्ञान की नासमझी की दृष्टि से देखने के कारण हुआ है। हमारे लिए क्या सबसे अच्छा है के हमारे सहज बोध को शंका लगातार अधिकाधिक नष्ट करती गई है। जबकि बुद्धि, जिसे कभी भी हमारी वास्तविक आवश्यकताओं का खास भान नहीं था, वह यह तय करने लगी है कि हमें करना क्या चाहिए।

उदाहरण के लिए यह बात तार्किक क्षमता के क्षेत्र में आती ही नहीं कि शिशु के साथ कैसा बरताव किया जाए। हम *होमो-सेपियन्स* बनने के निकट पहुँचे उसके बहुत पहले से ही हमारे पास अद्भुत नैसर्गिक प्रवृत्ति मौजूद थी जो शिशु की देखभाल की प्रत्येक बारीकी में दक्ष थी। पर हमने इस अर्से से स्थापित ज्ञान के विरुद्ध षडयंत्र रच उसे इस कदर भ्रमित कर दिया है कि अब हम पूर्णकालिक शोधकर्ता नियुक्त कर इस पहली के जवाब तलाशते हैं कि हमें बालकों, एक-दूसरे और स्वयं खुद से कैसा आचरण करना चाहिए। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि विशेषज्ञ यह “अनुसंधान” नहीं कर पाए हैं कि संतुष्टि के साथ कैसे जिया जा सकता है। परन्तु जितनी अधिक असफलता उनके हाथ लगती है, उतना ही अधिक वे समस्या को एकमात्र तर्क के प्रभाव में लाने का प्रयास करते हैं। जिसे तर्क बुद्धि समझ न सके या नियंत्रित ही न कर सके उसे वे खारिज कर देते हैं।

हमारी बुद्धि ने हमें लगभग पालतू बना लिया है। हमारे लिए क्या अच्छा है का अंतर्बोध इस हद तक क्षीण हो चुका है कि हमें यह चेतना ही नहीं है कि वह काम कैसे करती है। न ही हम मूल अंतःप्रेरणा तथा विकृत हो चुकी अंतःप्रेरणा में अंतर कर पाते हैं।

पर मेरा विश्वास है कि हम अब जैसे भी हैं, खोए हुए और बाधित, फिर भी यह संभव है कि वहीं से प्रारंभ कर हम वापसी का रास्ता खोज लें। कम से कम हम यह तो जान ही सकते हैं कि हमारा हित किस दिशा में है और हम उन गलतियों को तो रोक दें, जो हमें पथ से और दूर भटकाएँ। मस्तिष्क का सचेतन भाग, किसी दूसरे के युद्ध में एक अच्छे “तकनीकी सलाकार” की तरह, जब अपने तौर-तरीकों में त्रुटि को देख ले, तो उसे स्वयं को उस युद्ध से बाहर निकालने के काम में जुटना चाहिए। बजाए इसके कि वह अज्ञात क्षेत्र में और गहरे घुसता जाए। जो काम लाखों-करोड़ों वर्षों से मस्तिष्क का वह भाग जिसे हम नैसर्गिक प्रवृत्ति कहते हैं अधिक परिष्कृत और संविज्ञ तरीकों से करता आया है, उसे हड़पने के सिवा भी तर्क क्षमता के पास तमाम अन्य काम मौजूद हैं। अगर नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ भी सचेत होतीं तो वे हमारी खोपड़ियों को पल भर में ही अविभूत कर देतीं। किसी अन्य कारण से नहीं तो इसी कारण से कि चेतन मस्तिष्क अपनी प्रकृति से ही एक समय पर केवल एक चीज़ पर ही विचार कर सकता है, जबकि अचेतन एक साथ कई अवलोकन, गणनाएँ, संश्लेषण व क्रियान्वयन कर सकता है, और वह भी सही तरीके से।

इस संदर्भ में 'सही' शब्द कुछ भ्रम पैदा करता है। क्योंकि इसका अर्थ यह नहीं है कि सब इस बात पर सहमत हैं कि हम हमारे कृत्यों का क्या नतीजा चाहते हैं। जबकि दरअसल हम क्या चाहते हैं संबंधी हमारे बौद्धिक विचार व्यक्ति दर व्यक्ति भिन्न होते हैं। यहाँ 'सही' से तात्पर्य उससे है जो हमारी प्रजाति के प्राचीन सातत्य के लिए उपयुक्त हो, क्योंकि वही हमारी उन प्रवृत्तियों तथा अपेक्षाओं के लिए अनुकूल है जिनके साथ हमारा क्रमविकास हुआ है। इस अर्थ में "अपेक्षा" (एक्स्पेक्टेशन) मनुष्य में उतनी ही गहराई से स्थित है जितनी गहरी मनुष्य रूपरेखा (डिजाइन) है। मानव फेफड़े में न केवल वायु मौजूद होती है, बल्कि कहा जा सकता है कि वह दरअसल उनसे वायु की अपेक्षा ही है। उसकी आँखें एक निश्चित तरंग दैर्ध्य की प्रकाश किरणों की उम्मीद हैं, जिन्हें वह अपनी प्रजाति के लिए उचित समय में देख सकता है। उसके कान उन चीजों की स्पन्दन सुन पाने की अपेक्षा हैं जो उससे सरोकार रखने वाली संभावित घटनाओं से उत्पन्न होता है। इसमें अन्य लोगों की आवाज़ें भी शामिल हैं। और स्वयं अपनी आवाज़ भी कानों के कार्य की अपेक्षा है। उसकी जलवारक (वॉटरप्रूफ) चमड़ी और बाल, बारिश की अपेक्षा हैं; नाक के बाल धूल-मिट्टी की; उसके चर्म की रंजकता (पिगमेंटेशन) धूप की उम्मीद है; स्वेद तंत्र गर्मी की अपेक्षा है; खून के जमाव की प्रक्रिया शरीर की सतह के दुर्घटना ग्रस्त होने की अपेक्षा है; एक लिंग, दूसरे की अपेक्षा है; प्रतिवर्ति क्रिया तंत्र (रिफ्लैक्स मैकैनिज्म) आपातकाल में तीव्र प्रतिक्रिया की आवश्यकता की उम्मीद है।

जिन ताकतों ने मानव की रचना की है, उन्हें पहले से यह कैसे मालूम होता है कि इन्सान को किस चीज़ की ज़रूरत होगी? इसका रहस्य है अनुभव। अनुभवों की जो शृंखला मानव को धरती पर बिताए जाने वाले समय के लिए तैयार करती है, उसकी शुरुआत पहले-पहल बने एक कोषीय जीवित द्रव्य की इकाई के साहसिक कारनामों से हुई थी। उस एकल कोषीय प्राणी ने तापमान, आसपास के क्षेत्र की संरचना, अपनी गतिविधियों के ईंधन के रूप में उपलब्ध पोषण, मौसम के बदलाओं, अन्य वस्तुओं या अपनी ही प्रजाति के अन्य सदस्यों से टकराने आदि के जो भी अनुभव किए वे उसके वंशजों को पहुँचाए गए। ये सूचनाएँ अगली पीढ़ी को उस तरीके से संप्रेषित की गई जो विज्ञान के लिए अब तक रहस्य बना हुआ है। इन संप्रेषित सूचनाओं के आधार पर बड़ी धीमी गति से बदलाव भी हुए, जिसमें कल्पनातीत समय लगा। इससे विभिन्न प्रजाति

स्वरूप उपजे जो उन स्थितियों में बचे रह सकते थे, जो अलग-अलग तरीकों से पर्यावरण से निबटते हुए स्वयं की पुनर्रचना कर सकते थे।

ऐसा तब होता है जब कोई प्रणाली नानास्वरूप धारण कर अधिक जटिल और विविध परिस्थितियों से अधिक सटीकता से अनुकूलित होती है, इस प्रक्रिया का प्रभाव भी अधिक स्थायित्व का पड़ा। प्राकृतिक दुर्घटनाओं से जीवन के पूर्णतः नष्ट हो जाने का खतरा घटा। ऐसे में अगर कोई एक स्वरूप पूर्णतः नष्ट हो भी जाता, तो भी पर्याप्त अन्य जीव अस्तित्व में थे जो कायम रह सकते थे। साथ ही वे अधिक जटिल बनने, विविधता लाने, अनुकूलित होने, और स्थायित्व लाने का काम जारी रख सके (यह कयास लगाना वाजिब भी है कि कोई एक स्वरूप बचा रह पाया होगा, उसके पूर्व कई 'प्रथम' स्वरूप नष्ट हुए होंगे। शायद आखरी के नष्ट होने के लाखों-करोड़ों वर्ष बाद और नाना प्रकार का वैविध्य आया होगा, ताकि ऐसा स्वरूप जन्म ले सके जो किसी असहनीय तात्विक घटना से लुप्त न हो जाए)।

इसी दौरान प्रत्येक स्वरूप में, तथा प्रत्येक स्वरूप के प्रत्येक भाग में स्थिरीकरण (स्टेबलाइजिंग) का सिद्धान्त काम करता रहा। अनुभवों की अपनी विरासत से, अपने हर प्रकार के संपर्क से सूचनाएँ एकत्रित कर, वह अपने वंशजों को उन अनुभवों से अधिक कुशलता से निपटने के अधिकाधिक जटिल तरीकों से लैस करता गया। *अतः प्रत्येक व्यक्तिगत जीव का ढाँचा उस अनुभव का प्रतिबिम्ब बना, जिसका सामना करने की उसे अपेक्षा थी। वह जिस अनुभव को झेल सकता था उसकी परिभाषा वे परिस्थितियाँ करती थी, जिनसे उसके पूर्वज अनुकूलित हो चुके थे।*

अगर क्रमिक रूप से विकसित होते ये जीव किसी ऐसे वातावरण में बने होते जिसका तापमान कभी भी कुछ घंटों से अधिक 120 डिग्री से ऊपर न जाता, न ही 45 डिग्री से नीचे, तो मौजूदा जीव भी ठीक ऐसा कर सकता था, परन्तु अपने पूर्वजों की ही तरह वह अपना कुशलक्षेम उस स्थिति में कायम नहीं रख सकता था जो लंबे समय तक उसकी सहनशीलता की हद से अधिक या कम हो जाए। ज़ाहिर है कि ऐसे में उसकी आपातकाल के लिए संचित ऊर्जा चुक जाती और अगर तत्काल राहत न मिलती तो उस व्यक्तिगत जीव या प्रजाति की मृत्यु हो जाती। *अगर कोई यह जानना चाहता है कि किसी प्रजाति के लिए क्या सही है, तो हमें उस प्रजाति की अंतर्निहित अपेक्षाओं को जानना ज़रूरी है।*

मानव की अंतर्निहित अपेक्षाओं के विषय में हम दरअसल जानते कितना हैं? यह तो हम बखूबी जानते हैं कि उसे मिलता क्या है और हमें वर्तमान मूल्य प्रणाली के आधार पर अक्सर यह भी बताया जाता है कि वह क्या चाहता है अथवा उसे क्या चाहना चाहिए। परन्तु विडंबना यह है कि उसके क्रमविकास के इतिहास के अनुसार एक प्राचीन वंशानुक्रम की वसीयत के रूप में इस प्रजाति के वर्तमान नमूने से किस प्रकार की अपेक्षा है, यह अंधेरे रहस्यों में से एक है। क्या श्रेष्ठ है इसके निर्णय पर बुद्धि का बिज्र हो गई, और अपने मौजूद प्रचलनों और अनुमानों की प्रभुसत्ता का आग्रह करती है। फलतः जो किसी समय मानवोचित व्यवहार तथा वातावरण की उपयुक्त अपेक्षा थी, वह अब इस कदर कुण्ठित हो चुकी है कि अगर कोई व्यक्ति बेघर या पीड़ा में न हो तो अक्सर स्वयं को भाग्यवान मान लेता है। पर जिस समय वह “मैं ठीकठाक हूँ” कह रहा होता है, उस वक्त भी उसमें कुछ खो देने की, किसी अनाम वस्तु की ललक की, केन्द्र से हटे होने की, कुछ कमी होने की, भावना होती है। अगर उससे सीधे-सीधे पूछा जाए तो वह बिरले ही इस भावना की मौजूदगी से इन्कार करे।

सो मानव की विकसित अपेक्षाओं के सटीक चरित्र को तलाश पाने के लिए, इस बाद के सुसभ्य मॉडल को देखने का कोई फायदा नहीं है।

अन्य प्रजातियों को देखने-जाँचने से मदद मिल सकती है परन्तु वे भ्रामक भी हो सकती हैं। जहाँ विकास का स्तर समान हो वहाँ अन्य पशुओं से तुलना जायज़ हो सकती है। जैसे अधिक गहन, अधिक बुनियादी आवश्यकताओं के मामलों में, जो हमारे मानवाकार स्वरूप के पूर्व की हैं। उदाहरण के लिए साँस ले पाने के लिए हवा की ज़रूरत जो अरबों-खरबों वर्ष पूर्व उपजी थी और अन्य साथी पशु प्रजातियों में भी पाई जाती है। परन्तु उन मानवों का अध्ययन अधिक उपयोगी होगा, जिन्होंने उचित आचरण व पर्यावरण संबंधी उचित आचरणों के सातत्य का उल्लंघन नहीं किया है। ऐसे अध्ययन से अगर हम अपनी अपेक्षाओं में से कुछ ऐसी अपेक्षाओं की पहचान कर भी लें, जो साँस लेने के लिए हवा की ज़रूरत से कम जाहिर हो, तब भी हमेशा ऐसी तमाम अधिक सूक्ष्म अपेक्षाओं का ढेर बचा रहेगा जिन्हें परिभाषित किए बिना हम उनके नैसर्गिक ज्ञान के अंश भर को समझने के लिए किसी कम्प्यूटर की सहायता तक ले सकें। अतः यह निहायत ज़रूरी है कि हम जो उपयुक्त है उसका चुनाव करने की हमारी अंतर्निहित क्षमता

को पुनर्स्थापित करने के प्रत्येक अवसर की तलाश करते रहें। जिस अनगढ़-सी बुद्धि की मदद से हमें अब इन अवसरों को पहचानना है वह तब स्वयं को ऐसे काम में लगा सकेगी, जिसे करने की वह बेहतर क्षमता रखती है।

जिन अपेक्षाओं के साथ हम जीवन का सामना करते हैं वे उन प्रवृत्तियों से (उदाहरण के लिए स्तन पान करना, शारीरिक क्षति से बचाव, घुटनों से चलना, रेंगना, नकल करना आदि से) जटिलता से उलझी होती हैं। जब आचरण तथा परिस्थितियों के रूप में हमें जिसकी उम्मीद हो, वह उपलब्ध हो जाता है, हममें निहित प्रवृत्तियाँ परस्पर अंतःक्रिया करती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे हमारे पूर्वजों ने उन्हें अंतःक्रिया करने को तैयार किया था। जब वह नहीं घटता जिसकी अपेक्षा हो, तब सुधारक या पूरक प्रवृत्तियाँ स्थायित्व को पुनः स्थापित करने की चेष्टा करती हैं।

मानवीय सातत्य को अनुभवों की एक क्रम-शृंखला के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। ऐसी शृंखला जो ऐसे वातावरण में मानव प्रजाति की अपेक्षाओं और प्रवृत्तियों के समानुकूल हों, जिसमें ये अपेक्षाएँ व प्रवृत्तियाँ गढ़ी गई हों। इसमें समुचित आचरण तथा वातावरण के हिस्से के रूप में अन्य लोगों का आचरण भी शामिल है।

व्यक्ति का सातत्य पूर्ण होता है, इसके बावजूद वह उसके परिवार के सातत्य का भी हिस्सा होता है जो दरअसल उसके कुनबे, समुदाय, तथा प्रजाति के सातत्य का हिस्सा होता है। उसी तरह जैसे मानव प्रजाति समस्त जीवन का हिस्सा होती है। प्रत्येक सातत्य की अपनी अपेक्षाएँ व प्रवृत्तियाँ होती हैं जो लम्बे विकास के पूर्व उदाहरण से जन्मती हैं। जिस सातत्य में सभी जीवित प्राणी शामिल हों, वह भी अपने अनुभव के कारण अपने आसपास की निर्जीव परिस्थितियों में भी उपयुक्त घटकों की अपेक्षा रखता है।

प्रत्येक जीव स्वरूप में क्रमिक विकास की प्रवृत्ति यादृच्छिक (रैंडम) नहीं होती; बल्कि वह अपने हित को पुष्ट करती है। वह अधिक स्थायित्व की ओर निर्देशित होती है — अर्थात् अधिक विविधता, जटिलता और इसलिए ही अधिक अनुकूलनीयता की दिशा में अभिमुख होती है।

जिसे हम “प्रगति” कहते उसमें केवल यही शामिल नहीं होता। सच तो यह है कि परिवर्तन का विरोध, क्रमिक रूप से विकसित होने की प्रवृत्ति के साथ टकराता नहीं है

बल्कि वही वह अपरिहार्य ताकत है जो किसी भी प्रणाली को स्थिर रखती है।

परिवर्तन के प्रति हमारे अंतर्निहित विरोध को जिसने कुछ हजार वर्ष पहले अवरुद्ध किया उसका हम केवल कयास ही लगा सकते हैं। जिस बात को समझना महत्वपूर्ण है, वह है क्रमविकास बनाम (अविकसित) परिवर्तन का महत्त्व। ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे के विरुद्ध काम करती हैं, क्योंकि वैविध्य के रूप में क्रमविकास जिसे रचता है वह हमारी आवश्यकताओं के लिए और अधिक सटीक रूप से अनुकूलित होता है। वहीं परिवर्तन ऐसा आचरण या परिस्थितियाँ पैदा करके जो हमारे हित को साधने वाले सभी घटकों का लेखा-जोखा नहीं रखता। उस संतुलन को नष्ट कर देता है। बदलाव सिर्फ यह कर पाता है कि वह एक अच्छी तरह से समेकित आचरण के स्थान पर एक ऐसा आचरण रख दे जो समेकित न हो। नतीजन बदलाव, प्रणाली के अंदर तथा बाहर के बारीकी से जुड़े विविध घटकों के संतुलन पर दबाव डालता है।

अर्थात् क्रमविकास स्थायित्व देता है; जबकि परिवर्तन अति-संवेदनशीलता लाता है।

सामाजिक संगठन भी इन नियमों का अनुसरण करते हैं। एक विकसित संस्कृति, एक समूह के लोगों की जीवन शैली, जो उनकी सामाजिक अपेक्षाओं की पूर्ति करती हो, वह असंख्य संरचनाओं में से किसी एक प्रकार की हो सकती है। इन संरचनाओं की सतही विशेषताएँ ही सर्वाधिक परिवर्तनीय होती हैं, पर उनके बुनियादी सिद्धान्त सबसे कम परिवर्तनशील और कुछ बुनियादी अर्थों में तो बिल्कुल समान होते हैं। उनमें बदलाव के प्रति विरोध होगा, क्योंकि वे प्रकृति की किसी भी अन्य स्थिर प्रणाली के समान, एक लंबे अर्से में क्रमशः विकसित हुए होंगे। इसका मतलब यह भी होगा कि आचरण के इन तौर-तरीकों के निर्माण में बुद्धि ने सहजवृत्ति में जितना कम हस्तक्षेप किया होगा, संरचना को सतह पर उतना ही कम गैर-लचीला बनने की ज़रूरत होगी (आचरण की बारीकियों, कर्मकाण्ड तथा अनुपालन की आवश्यकता के बारे में) और वह केन्द्र में उतना ही अधिक अपरिवर्तनशील होगा (स्व के प्रति अभिगम के विषय में, अन्य लोगों के अधिकारों संबंधी अभिवृत्ति में, उन संकेतों के प्रति संवेदनशीलता के विषय में जो बचाव, स्वास्थ्य, आनंद, विभिन्न प्रकार की गतिविधियों में संतुलन की पक्षधर हों, उनमें प्रजातियों के बचाव की प्रवृत्ति, वातावरण के पेड़-पौधों, पशुओं के किफायती उपयोग करने की वृत्ति होगी, आदि-इत्यादि)। एक शब्द में कहें जो संस्कृति बुद्धि पर जितना



अधिक निर्भर करती है, उसे कायम रखने के लिए व्यक्ति पर उतने ही अधिक बंधनों की आवश्यकता होती है।

विशुद्ध स्वाभाविक आचरण मय उसकी अपेक्षाओं तथा प्रवृत्तियों के तथा एक उपयुक्त संस्कृति की हमारी स्वाभाविक अपेक्षा में कोई मूलभूत अंतर नहीं होता। एक ऐसी संस्कृति जिसमें हम अपनी प्रवृत्तियों को विकसित कर सकें और अपनी अपेक्षाओं को साकार कर सकें। इन अपेक्षाओं में सबसे पहली शैशव में सटीक आचरण की होती है, और क्रमशः अधिक लचीले *किस्म* के आचरण तथा परिस्थिति की, तथा ऐसी विविध आवश्यकताओं की भी जिनके लिए अनुकूलन तैयार, उत्सुक और सक्षम हो।

इन्सान के जीवन में संस्कृति की भूमिका उतनी ही वैध है, जितनी भाषा की। दोनों की शुरुआत इस अपेक्षा तथा प्रवृत्ति से होती है कि वे उक्त वातावरण में अपनी विषयवस्तु तलाश लेंगे। बालक का सामाजिक आचरण समाज द्वारा उसके लिये स्थापित अपेक्षित प्रभावों तथा आचरणों के बीच विकसित होता है। उसकी आंतरिक प्रेरणाएँ भी उसे वही सब करने को बाध्य करती हैं, जिन्हें वह साथी मनुष्यों द्वारा स्वयं से अपेक्षित मानता है। उसके साथी उसे बताते भी हैं कि संस्कृति के अनुरूप वे उससे किस चीज़ की अपेक्षा करते हैं। सीखना एक प्रक्रिया है जिसमें कुछ विशेष प्रकार की सूचनाओं की अपेक्षाओं की पूर्ति होती है। इस प्रकार की सूचनाएँ पेचीदगी के एक निश्चित क्रम में बढ़ती हैं, ठीक उसी तरह जैसे भाषा का नियोजन क्रमशः पेचीदा होता जाता है।

हमारी अपेक्षाओं के स्तर की उपयुक्तता, जो प्रत्येक व्यक्ति के सातत्य की भावना से कायम रहती है (आनंद से प्रोत्साहित होती है, और जो औचित्य की हदों को लाँघते ही स्वाभाविक घृणा के कारण सही पथ पर बनी रहती है), वही संस्कृति की कुछ चीज़ों को सही और दूसरी को गलत मानने की प्रणाली का आधार होती है। इस प्रणाली की विशिष्टताओं में भी, मूलभूत मानकों की सीमा के अंदर अनंत भेद संभव है। इन परिभाषित सीमाओं का उल्लंघन किए बिना भी व्यक्तिगत या कबीले के स्तर पर अंतरों की पर्याप्त संभावना रहती है।

# 3

## जीवन का प्रारंभ

गर्भ में रहते हुए नन्हे मानव को अब भी यह छूट होती है कि वह अपने पूर्ववर्तियों के विकास चरणों में एक सीधी रेखा में बढ़ता जाए। एकल कोशिका के चरण से उभयचर, और तब आगे प्रज्ञावान मानव (*होमो सेपियन*) के चरण तक। इस दौरान उसके साथ ऐसा कुछ भी नहीं घटता, जिसके लिए उसके पूर्वजों के गर्भावस्था के अनुभव ने उसे पहले से ही तैयार नहीं किया होता। वह पोषित होता है, उसे गर्म रखा जाता है तथा वह ठीक उसी प्रकार ठेलमठेली झेलता है जैसे शिकारी-एकत्रक अवस्था का भ्रूण झेलता था। जिन ध्वनियों को वह सुनता है वह भी खास भिन्न नहीं होतीं। कम से कम तब तक जब तक की उसकी माता ऐसे स्थान पर न रहती हो जहाँ ध्वनि से भी तेज़ रफ्तार से चलने वाले विमान उड़ते हों, या वह ऐसे डिस्कथेक में जाती हो जहाँ बेहद ऊँची आवाज़ में संगीत बजता हो, या वह ट्रक चालक हो। वह अपनी माँ की धड़कनें सुनता है और वे सारी आवाज़ें जो माँ का शरीर खाना पचाने, खर्राटे लेने, हँसने, गाने, खाँसने आदि के समय करता है। वह इस सबसे परेशान नहीं होता क्योंकि उसके पूर्वजों ने भी लाखों वर्षों तक ठीक ऐसी ही ध्वनियाँ, इतनी ही ज़ोर से, और इतने ही अचानक सुन रखी हैं। उनके अनुभवों के चलते वह इन ध्वनियों की, इस प्रकार के ठेलमठेल की, अचानक आए झटकों की अपेक्षा करता है। वे सब प्रसव-पूर्व होने वाले उसके विकास के पूर्ण होने के

लिए आवश्यक अनुभव का ही हिस्सा होते हैं।

जन्म के समय बालक अपनी अधिकतम सुरक्षा वाली कोठरी में इतना विकसित हो चुका होता है कि बाहर की तुलनात्मक रूप से कम परिरक्षित दुनिया में जीवन जारी रख सके। परिवेश के अचानक बदल जाने का यह सदमा आंशिक रूप से संक्रमणों से सुरक्षा के लिए उच्च गामा ग्लोब्युलिन की उपस्थिति जैसी व्यवस्थाओं से सहनीय बन जाता है जो इतनी धीमी गति से कम होते हैं कि बालक में रोग निरोधक क्षमता पनपे। इसके अलावा बालक में पहले आंशिक अंधता होती है जो जन्म के सदमे से बाहर निकलने के बाद ही पूर्ण दृष्टि में बदलती है। साथ ही विकास का एक सामान्य कार्यक्रम भी होता है जो उसके बनावट के कुछ पक्षों को, जैसे प्रतिवर्ति क्रिया (रिफ्लैक्स), रक्तवाहक तंत्र व श्रवण शक्ति को जन्म से भी पहले और शेष को जन्म के कुछ दिनों, सप्ताहों या महीनों बाद, सक्रिय कर देती है। इसमें चरणबद्ध रूप से मस्तिष्क के विभिन्न भागों का सक्रिय होना भी शामिल है।

जन्म का पल अपने-आप में आमूल-चूल परिवर्तन का पल भी होता है। इसमें शिशु का तात्कालिक परिवेश गीले से सूखे में बदलता है, तापमान में कमी आती है ध्वनियाँ जो पहले दबी-ढकी रहती थीं वे अचानक तेज़ हो जाती हैं। शिशु अब स्वयं अपने बूते ऑक्सीजन खींचने लगता है, और उसका सिर जो पहले गुड़ीमुड़ी गर्भस्थ अवस्था से शेष शरीर के नीचे या उसके समान स्तर पर रहा करता था, अब ऊपर हो जाता है। परन्तु नवजात शिशु इन सारे बदलावों व प्राकृतिक प्रसव की तमाम अन्य संवेदनो को आश्चर्यजनक समचितता से झेलता है।

उसे अपनी खुद की आवाज़ चकित नहीं करती, हालाँकि यह उसकी ही खोपड़ी में, बेहद जोर से और पहले कभी न सुनी गई होती है। इसलिए क्योंकि जो तत्व उसकी काया को सूचना देते हैं, उसमें भयभीत होने की क्षमता जगाते हैं, और जो उसके सामान्य और भयानक में अंतर करना सिखाते हैं, उन्होंने इसे पहले सुन रखा होता है। जब उसके पूर्वजों ने आवाज़ विकसित की तब उन्होंने साथ ही साथ स्थिर करने वाली क्षमताओं का एक तंत्र भी विकसित किया ताकि उनकी प्रजाति उस समय जैसी थी, उसके ही अखण्डित क्रम में आवाज़ का आगमन भी सहजता से हो। जैसे-जैसे प्रजाति के ही साथ-साथ क्रमशः आवाज़ भी विकसित होने लगी और एक अधिक पेचीदा जीव के लिए

उपयुक्त परिवर्तन प्रजाति में आने लगे उसने अन्य उपकरण विकसित किए जो, स्वयं उस प्राणी में तथा जिस समाज में उसका उपयोग होना था, के बीच संतुलन बना रह सके। कान उस आवाज़ को सुनने के आदी हुए, प्रतिक्रिया तथा ध्वनि में सामंजस्य आया, और शिशु की अपेक्षाओं में गर्भ से निकलने पर प्रथम अनुभवों में होने वाले “अचरजों” में ध्वनि भी शामिल हो गई।

जन्म के बाद के प्रारंभिक चरणों में शिशु चेतनता की एक ऐसी स्थिति में होता है जो पूरी तरह संवेदनों की हो। उसमें तर्कबुद्धि, सचेतन स्मृति, चिंतन-मनन या फैसला ले पाने आदि के अर्थ में विचार करने की क्षमता नहीं होती। संभवतः उसे सचेतन कहने के बदले संवेदन-समर्थ ही कहा जाना चाहिए। सोते समय वह कुशलक्षेम की स्थिति से अवगत होता है, कुछ उस तरह जैसे कोई वयस्क अपने संगी के साथ सोते समय उसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति से अवगत होता है। जगी अवस्था में वह अपनी परिस्थितियों के प्रति अधिक जाग्रत होता है, पर कुछ इस प्रकार जिसे वयस्क में अवचेतन अवस्था कहा जाएगा। इन दोनों ही परिस्थितियों में शिशु अपने अनुभवों के प्रति किसी वयस्क से अधिक संवेदनशील अवस्था में होता है। इसलिए क्योंकि उसके पास इस प्रभाव का अर्थ समझने के लिए कोई पूर्व-दृष्टांत नहीं होता।

गर्भस्थ शिशु को समय के गुजरने का कोई अहसास नहीं होता। इस अहसास का न होना गर्भस्थ शिशु के लिए या माँ की बाँहों में थामें गए शिशु के लिए हानिकारक नहीं होता; उसे तो बस सब कुछ ठीक बिल्कुल सही होने का अहसास होता है। पर जो शिशु बाहों में नहीं होता, उसे अपनी पीड़ा के किसी भी अंश को एक आशा द्वारा (जो समय के अहसास पर निर्भर होती है) कम कर पाने की अक्षमता ही उसकी अग्नि-परीक्षा का क्रूरतम पक्ष होता है। अतः उसके रोने में आशा तक नहीं होती, हालाँकि वह राहत पाने का संकेत अवश्य होता है। बाद में, कई सप्ताह और महीने गुजरने पर शिशु की चेतनता बढ़ती है तब वह आशा का धूमिल-सा अहसास पाने लगता है। इस स्थिति में उसका रोना एक परिणाम से जुड़ जाता है जो या तो नकारात्मक हो सकता है या सकारात्मक। परन्तु इंतज़ार के लंबे घंटे, समय के अहसास के आने के साथ सुधरते नहीं हैं। पूर्व अनुभव की कमी के कारण जो शिशु कुछ चाहने की स्थिति में हो, उसे समय असहनीय रूप से लंबा लगता है।

वर्षों गुजरने के बाद, पाँच साल की उम्र में अगर बालक को अगस्त के माह में यह

वादा किया जाए कि “अगली क्रिसमस” में (अर्थात दिसंबर में) उसे साइकिल दी जाएगी, तो यह उसे उतना ही संतोष दे सकता है, जितना कोई वादा ही न करना। दस वर्ष की आयु में समय का भान कुछ स्थिर हो जाता है, इतना कि बालक कुछ चीजों के लिए कमोबेश आराम से एक दिन तक, कुछ अन्य चीजों के लिए एक महीने तक, इंतज़ार कर सकता है। परन्तु जब ज़रूरत को पूरा करने की बात हो तो साल भर इंतज़ार करने को कहना निरर्थक होता है। वर्तमान की वास्तविकता में पूर्णता का ऐसा गुण बना रहता है जो काफी अनुभव के बाद ही, कालक्रम तथा मूल्य प्रणाली के बोध में घटनाओं की तुलनात्मक प्रकृति की समझ ला पाता है। चालीस या पचास वर्ष की आयु में ही जाकर अधिकतर लोग एक जीवनकाल के संदर्भ में एक दिन या एक माह पर एक परिप्रेक्ष्य बना पाते हैं। जबकि कुछ ही गुरु या अस्सी वर्षीय लोग क्षणों या जीवनकालों का अनंतकाल से संबंध समझ सकते हैं (ऐसा तब होता है जबकि काल की यादृच्छिक अवधारणा की अप्रासंगिकता को वे पूरी तरह समझ लेते हैं)।

शिशु (गुरु की ही तरह) अनंत वर्तमान में जीता है; बाहों में उठा बच्चा (और गुरु) परमानंद की स्थिति में होते हैं; बाहों से विलग शिशु एक शून्य विश्व के उजाड़पन में चाहना की स्थिति में होता है। उसकी अपेक्षाएँ वास्तविकता से घुलती-मिलती हैं और उसकी अंतर्जात पैतृक अपेक्षाएँ उसके अनुभवों पर आधारित अपेक्षाओं से आच्छादित होती जाती हैं (बदलती या स्थानापन्न नहीं होती)। जिस मात्रा में ये दो प्रकार की अपेक्षाएँ भिन्न दिशाओं में बढ़ती हैं, वही यह निर्धारित करता है कि वह शिशु कुशलक्षेम की अंतर्निहित संभावना से कितनी दूर होगा।

ये दो प्रकार के अपेक्षा समूह कतई समान नहीं होते। जो क्रमिक रूप से विकसित अपेक्षाएँ हैं उनकी प्रकृति तब तक सुनिश्चित होती है, जब तक उनके साथ विश्वासघात नहीं होता। जबकि जो अपेक्षाएँ सीखी गई होती हैं, और जो क्रमिक रूप से विकसित अपेक्षाओं से भिन्न दिशा पकड़ती हैं, उसमें मोहभंग का नकारात्मक चरित्र होता है। वे शंका, संदेह, भावी अनुभवों से आहत होने के भय में, या इन सबसे कहीं अधिक अपरिवर्तनीय स्थिति, आत्मसमर्पण के रूप में व्यक्त होती हैं।

ये सभी अनुक्रियाएँ (रिस्पॉन्सेस) अपने कृत्य में सातत्य की रक्षा करती हैं। परन्तु हताशा के परिणामस्वरूप आत्मसमर्पण उस मूल अपेक्षा को ही जड़ीभूत कर देता है कि

कभी ऐसी स्थितियाँ भी आएँगी जिसमें अपेक्षाएँ और उनकी आपूर्ति का क्रम जारी रह सकेगा।

जिस बिन्दु पर अनुभव की किसी खास ज़रूरत की पूर्ति नहीं हो पाती, वहीं विकास की रेखाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। कुछ रेखाएँ शैशव काल में ही रोक दी जाती हैं, तो कुछ अन्य बाल्यवस्था में आगे चल कर अवरुद्ध होती हैं, या फिर वयस्क अवस्था तक भी विकसित होती जाती हैं; जैसा क्रमविकास द्वारा निर्धारित था। वंचित व्यक्तियों में भावनात्मक, बौद्धिक व शारीरिक क्षमताएँ साथ-साथ मौजूद हो सकती हैं, परन्तु परिपक्वता के भिन्न-भिन्न चरणों में हो सकती हैं। विकास की सभी रेखाएँ, चाहे वे अवरुद्ध हों या परिपक्व, जिस भी स्थिति में वे हैं उसी में साथ-साथ काम करती जाती हैं। प्रत्येक रेखा उस अनुभव का इंतजार करती है, जो उसकी आवश्यकता को पूरी करे। इसलिए क्योंकि वे किसी दूसरी दिशा में बढ़ने में असमर्थ होती हैं। व्यक्ति का कुशलक्षेम इस बात पर निर्भर करता है कि ये समस्त कार्य किस प्रकार से और किन पक्षों में सीमित किए गए हैं।

तो फिर, जन्म के समय ऐसे सदमे होते हैं जो शिशु को सदमा नहीं पहुँचाते या तो इसलिए कि वे अपेक्षित थे (और बाद में जिनकी कमी खल सकती है) या इसलिए कि वे सब एक ही साथ नहीं होते। यह मानना सही नहीं होगा कि जन्म के साथ असेम्बली लाइन के समापन की तरह शिशु बनने की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। इसलिए क्योंकि कुछ पूरक तो गर्भ में ही “जन्म” ले लेते हैं, जबकि कुछ अन्य काफी बाद में जाकर सक्रिय होते हैं। गर्भ में अपेक्षाओं तथा उनकी पूर्ति की शृंखला से गुजरा शिशु इस उम्मीद में रहता है, या अधिक सटीक शब्दों में कहें, तो उसे भरोसा होता है कि उसकी अगली आवश्यकताओं की भी पूर्ति होगी।

पर आगे होता क्या है ? लाखों-करोड़ों पीढ़ियों से जो होता चला आया है वह यह है कि माता के गर्भ के पूर्णतः जीवन्त वातावरण से शिशु का तबादला अंशतः जीवन्त बाहरी जगत में हो जाता है। हालाँकि माँ का सब कुछ उपलब्ध करवाने वाला शरीर तब भी होता है, और (जब से खड़े चलने का तरीका आया, जिसमें हाथ स्वतंत्र हो गए) उसके मददगार हाथ भी होते हैं। फिर भी नितांत जीवनशून्य, अपरिचित हवा होती है जो भी बच्चे के शरीर को स्पर्श करती है। पर इसके लिए भी वह तैयार होता है; गोद में

उसकी जगह शिशु-अपेक्षित स्थान है जिसे वह गहराई से अपने *निजी* स्थान के रूप में पहचानता है। और बाहों में वह जो कुछ अनुभव करता है, वह उसके सातत्य को स्वीकार्य होता है, उसकी मौजूदा आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और उसके विकास में सही योगदान देता है।

इसी तरह, उसकी चेतना (अवेयरनेस) की गुणवत्ता उससे बहुत भिन्न होती है जैसी वह भविष्य में बन जाने वाली है। वस्तुएँ कैसी हैं उसकी छाप की व्याख्या वह नहीं कर सकता। या तो वे सही हैं, या सही नहीं हैं। इस प्रारंभिक काल में उसकी आवश्यकताएँ कठोर होती हैं। जैसे हमने देखा अगर वह इस समय आरामदायक स्थिति में नहीं है, तो वह यह आशा भी नहीं रख सकता कि वह बाद में सुख से होगा। जब माँ उसे छोड़ जाए तब उसे यह अहसास नहीं हो सकता कि “माँ बस अभी लौट आएगी”, उसके लिए दुनिया अचानक गड़बड़ा जाती है, परिस्थितियाँ असहनीय बन जाती हैं। वह अपने (रुदन) को सुनता और स्वीकारता है। परन्तु हालाँकि उसकी माँ इस ध्वनि को और उसके अर्थ को अनादि काल से जानती है और उसे सुनने वाला कोई भी बालक या वयस्क भी उसे बखूबी जानता है, शिशु स्वयं उसे नहीं जानता-समझता। उसे केवल यह आभास होता है कि स्थिति को सही करने के लिए यह एक (रुदन) सकारात्मक कृत्य है। परन्तु अगर उसे बहुत लंबे समय तक रोने दिया जाए, जो अनुक्रिया रोने से होनी चाहिए थी अगर वह उसे मिले ही नहीं, तो यह भावना भी लुप्त हो जाती है और ऐसा घोर नैराश्य छा जाता है जिसका न अंत हो न अंत होने की आशा। जब उसकी माँ शिशु के पास आती है उसे बस ठीक लगने लगता है। उसे यह याद नहीं रहता कि माँ चली गई थी या यह कि वह रोता रहा था। वह तो बस अपनी जीवन डोर से फिर से जुड़ जाता है और उसका वातावरण उसकी अपेक्षाओं के अनुरूप बन जाता है। जब शिशु को त्याग दिया जाता है, सही अनुभवों के अपने सातत्य से डिगा दिया जाता है, तो उसे कुछ भी स्वीकार्य नहीं लगता, वह कुछ नहीं स्वीकारता। बस उसकी आवश्यकता बनी रहती है, ऐसा कुछ नहीं होता जिसका वह उपयोग कर सके, जिसके सहारे वह बढ़े, अनुभव की अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर सके। इसलिए क्योंकि ये अनुभव उसके अपेक्षित अनुभव होने चाहिए। उसके पूर्वजों के क्रमशः विकसित अनुभवों ने उसे इसके लिए तैयार ही नहीं किया होता है कि उसे सोते या जागते अकेले छोड़ दिया जाए और यह तैयारी तो और

भी कम होती है कि उसे रोने के लिए अकेले छोड़ दिया जाए।

गोद के बच्चे के लिए जो उचित भावना है वह है सब कुछ सही होने की, या बुनियादी अच्छाई (गुडनैस) की। एक पशु होने के नाते जिस एकमात्र सकारात्मक पहचान को शिशु जान सकता है, वह इस पूर्वमान्यता पर आधारित होती है कि वह सही है, अच्छा है, और स्वागत योग्य है। इस विश्वास के बिना किसी भी आयु का मनुष्य आत्मविश्वास के अभाव से, समग्र स्व की भावना के अभाव से, स्वतःस्फूर्तता और सौम्यता के अभाव से पंगु हो जाता है। सभी शिशु भले होते हैं, पर ये बात वे स्वयं केवल प्रतिबिम्बित रूप में, हम उनसे जैसा बरताव करते हैं, उससे यह जान सकते हैं। अपने बारे में कुछ महसूस करने का कोई दूसरा वैध तरीका इन्सान के पास है ही नहीं। कुशलक्षेम की बुनियाद के रूप में अन्य प्रकार की भावनाओं का उपयोग किया ही नहीं जा सकता। *हमारी प्रजाति के व्यक्ति में स्वयं के विषय में जो भावना उचित है वह है सहीपन (राइटनैस) की बुनियादी भावना।* जो आचरण स्वयं के बुनियादी सहीपन से अनुकूलित न हो, वह ऐसा आचरण हो ही नहीं सकता जिसके लिए क्रमविकास ने हमें विकसित किया है। अतः ऐसा आचरण न केवल लाखों वर्षों की चेष्टाओं को वृथा (व्यर्थ) कर देगा, बल्कि वह हमारे स्व या उसके बाहर के सभी रिश्तों के लिए भी अनुपयुक्त होगा। सही होने की भावना के अभाव में व्यक्ति को यह तक पता नहीं चल पाता कि वह कितने आराम, सुरक्षा, मदद, सहचर्य, प्रेम, मित्रता, वस्तुएँ, सुख या आनन्द का दावा करे। इस अहसास के बिना किसी व्यक्ति को अक्सर यह लगता है कि उसे जहाँ होना चाहिए वह स्थान खाली है।

कई लोग अपना जीवन इसी प्रमाण को तलाशने में गुज़ार देते हैं कि उनका अस्तित्व दरअसल है। रेसिंग कारों के चालक, पर्वतरोही, युद्ध नायक, व ऐसे अन्य साहसिक जो मृत्यु के साथ इश्कबाज़ी में रुचि दर्शाते हैं, वे दरअसल विलोम से घनिष्ठ तुलना कर यही अहसास करना चाहते हैं कि वे सच में ज़िंदा हैं। परन्तु आत्मरक्षा की सहजवृत्ति को झकझोरने से स्व के नामौजूद भाव के निरंतर ऊष्म प्रवाह को केवल धुंधले और अस्थायी रूप से ही स्पन्दित किया जा सकता है।

शिशुओं और बालकों का आकर्षण आवश्यक रूप से एक ताकतवर शक्ति होती है। इस आकर्षण के बिना वे अपनी अनेकों कमियों जैसे छोटे होने, कमज़ोर होने, धीमा



होने, असहाय होने, अनुभवहीन होने, और अपनों से बड़ों पर निर्भर होने की क्षतिपूर्ति ही नहीं कर सकते। उनका लुभावनापन स्वतः ही स्पर्धा को मिटा देता है और उन्हें जिस सहायता की ज़रूरत होती है उसे आकर्षित करता है।

शिशुओं में अपनी कोमलता से आकर्षित करने का भाव इतना मजबूत होता है कि वह सीमाओं से परे जाकर भिन्न प्रजातियों में भी काम करता है। जैसे एक शिशु पशु हममें मातृभाव जगाता है चाहे बच्चा, बड़ा, स्त्री या पुरुष हो, सभी इसे चुमना और कुछ देना पसंद करते हैं, उसकी रक्षा और देखभाल करना चाहते हैं। चाहे वह नवजात वालरस हो या हाथी का बच्चा, एक बाघ का शावक या फिर एक दिन का चूहा ही क्यों न हो उनमें स्पष्ट संकेत होते हैं जैसे ओस सी भीगी आँखें, अत्यंत कोमल बाल, खाल पर मुलायम केश या पंख, सिर का आकार शरीर के अनुपात में बड़ा, जैसे व्यस्क का हो, असमन्वित उत्सुकता और निश्चल विश्वास। और हममें से प्रत्येक में एक अनुक्रिया करने वाली यांत्रिकता है, जो हमें तत्क्षण नर्म बना देती है तथा हममें इच्छा जाग्रत होती है कि शिशु पशु को अपनी सेवाएं दे, चाहे उसका उद्देश्य बड़ा होकर बलशाली बनना व हमारा प्राकृतिक शत्रु बनने का ही क्यों न हो।

इसके विपरीत, जब मानव शिशु अपनी कोमलता के भाव भेड़ियों के झुंड को व्यक्त करता है तब उन्हें उसे, उनकी मांद में ले जाकर, गर्म रखना पड़ता है, भेड़िये का दूध पिलाना पड़ता है, भले ही उसने मां भेड़िये की आँखों को नोच लिया हो, या उसके छौंने को अलग धकेल कर पिता की पूंछ खींच ली हो। बड़े कुत्ते और छोटी बिल्लियाँ भी मानव शिशुओं की और आपस में एक दूसरे के शिशु की भी माँ की तरह हिफाजत करते हैं, उनके प्रति सहनशील होते हैं और इसमें संदेह नहीं कि वे नवजात आर्डवार्को से भी, यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो तो काम चलाऊ अदला-बदली की समझ से काम लेंगे। आदिम शिकारी प्रायः जानवर को भोजन हेतु मार डालते थे और मृत पशु के अनाथ को घर ले आते थे ताकि उनकी प्रिय पत्नियाँ उन्हें स्तनपान कराए।

यहाँ स्पष्ट है कि माता कि भूमिका बच्चे की वास्तविक माँ ही निभाए और उसकी ज़रूरत की वही पूर्ति करें, यह आवश्यक नहीं है।

यह भी आवश्यक नहीं है कि धाय (सरोगेट) माँ — मादा या वयस्क हो, केवल स्तन पान के समय को छोड़कर, और अन्य प्रजाति की होने पर भी वह शिशु का ख्याल

रखेगी; क्योंकि केवल दूध ही ऐसा पेय है, प्रत्येक प्रकार की प्रजातियों के आहार में विविधता के बावजूद, जिसका उपयोग अदल-बदल कर हम सब में किया जा सकता है। इसमें हम स्तनपायियों की निरंतरता की अनुभूति कर सकते हैं, जिसमें जीन की पृथकता, प्राथमिकाताओं के सामने गौण हो जाती है — निश्चित तौर पर न केवल एक दूसरे को आहार देने (क्रास फीडिंग) के मकसद से, बल्कि इसलिये भी कि हम खूद स्तनपायी मूल प्रादर्श रहे हैं और कालांतर में अपनी — अपनी पृथक दिशाओं में हमारा विकास होता गया, और यह इतना शुद्धतम् सारतत्व है जो हमारी अपनी प्रकृति को निर्धारण करता है। दरअसल माता-पुत्र संबंध जो स्तनपायियों के अवतरित होने के पहले से इस धरती पर चला आ रहा है; हममें अनुक्रिया की घंटी बजाता है, और गैर-स्तनपायियों का संकेत क्रमशः क्षीण होते हुए देता है, जो उस काल के अनुसार है जब हम उन प्रजातियों से अलग हुए। अतः हम फूले हुए पीले बत्ख के या मुर्गी के चूजे से तत्काल प्रभावित हो जाते हैं, परंतु कछुए के शिशु से उतने नहीं, और नवजात मछली से और भी कम, टिड्डे के शिशु से और भी कम, कीड़े या सी-अर्चिन के बच्चे से लगभग नहीं, और उसी क्षण पृथक हुए अमीबा से तो बिलकुल भी नहीं, यदि हम सूक्ष्मदर्शी यंत्र से उसे देख पाएं। हम जब एक प्रजाति के सदस्य को अन्य प्रजाति के शिशु की देखभाल करते हुए देखते हैं तब हमें केवल अचरज नहीं होता अपितु हम प्रसन्न भी होते हैं। यह हमारी निरंतरता की बुद्धि को अच्छा लगता है या उसे अच्छा अभ्यास मानकर हमें ऐसे दृश्य शारीरिक स्तर पर सुख देते हैं।

मातृत्व की भूमिका ही एकमात्र भूमिका है जिसके मार्फत शुरुआती महीनों में शिशु से रिश्ता कायम किया जा सकता है। यह भूमिका पिता, अन्य बच्चे, तथा जो भी शिशुओं से पल भर के लिए भी जुड़ते हैं, सभी सहज ही निभाते हैं। लिंग या आयु समूहों में शिशु कोई अंतर नहीं करता।

माता या पिता की भूमिका में पुरुषोचित या स्त्रियोचित गुणों की अप्रासंगिकता को एक फ्रांसिसी मनोचिकित्सकीय क्लिनिक के प्रयोगों से दर्शाया जा चुका है। इस क्लिनिक में महिला चिकित्सक अपने रोगियों के लिए पिता की भूमिका में थीं, जबकि पुरुष नर्स रोगियों की रोज़मर्रा की देखभाल करते हुए उतने ही संतोषजनक रूप से माता की भूमिका अदा करते थे। (यह कुछ ऐसी बात है जिसे बुद्धि अचानक खोज लेती है,

जबकि मानव सहजवृत्ति से लाखों सालों से ठीक ऐसा ही करता आया है।)

इस अर्थ में शिशु के लिए केवल एक ही प्रकार का संभाव्य संबंध होता है और हममें से प्रत्येक में उसके संकेतों के अनुरूप अनुक्रिया की संपूर्ण श्रृंखला बसती है। हम सब में, चाहे स्त्री हो या पुरुष, बालिका हो या बालक, शिशु देखभाल की तकनीकों का बेहद बारीक ज्ञान भी होता है। इस तथ्य के बावजूद कि हाल ही में, (जिससे मेरा तात्पर्य है कुछ हजार वर्षों से) हमने बुद्धि को यह छूट दे दी है कि वह इस बेहद ज़रूरी मसले पर अपनी फूहड़ सनकों को आजमाए और उसने अपनी अंतर्निहित क्षमताओं का इस स्वेच्छाचारिता से अतिक्रमण किया है कि हम अब उसके अस्तित्व तक को ही लगभग भुला बैठे हैं।

विकसित देशों में यह चलन अब आम हो चुका है कि जैसे ही शिशु के आगमन का पता चले लोग बच्चे की देखभाल पर पुस्तक खरीद लाते हैं। संभव है कि वर्तमान चलन इस बात का हो कि बच्चे को तब तक रोने दिया जाना चाहिए जब तक उसका दिल ही न टूट जाए, और वह हथियार डाल दे, या चेतना शून्य हो जाए, और यों “अच्छा शिशु” बन जाए। या कि शिशु को तब ही गोदी लिया जाए जब माँ की इच्छा हो और उसके पास उस पल करने को कुछ न हो। या जैसे एक हालिया विचारधारा सुझाती है कि शिशु को भावनात्मक शून्य में छोड़ा जाना चाहिए, नितान्त आवश्यक कामों को निपटाने के अलावा उसका स्पर्श नहीं करना चाहिए। और तब भी चेहरे पर कोई हावभाव नहीं होने चाहिए, न खुशी झलकनी चाहिए, न मुस्कराना चाहिए, न प्रशंसा की दृष्टि से उसे देखना चाहिए, केवल भावहीन नज़र से उसे ताकना चाहिए। जो कुछ युवा माताएँ पढ़ती हैं और उसका अनुपालन करती हैं, वह सब वे अपनी अंतर्निहित क्षमता के प्रति अविश्वास के चलते करती हैं। शिशु जो स्पष्ट संकेत देता है, उसका विश्वास न कर वे उसकी “मंशा” के प्रति शंकालु होती हैं। दरअसल शिशु अब एक प्रकार का शत्रु हो गया है, जिसे माता को हराना होता है। उसके रोने की उपेक्षा करनी चाहिए, ताकि शिशु को पता चल जाए कि बाँस कौन है। इस संबंध में जो मूल पूर्वमान्यता है वह यह है कि बालक माँ की इच्छा के अनुसार चलने को बाध्य हो। ऐसा करने की हर संभव चेष्टा करनी चाहिए। नाराज़गी, घृणा, या प्रेम को हटा लेने का कोई अन्य संकेत शिशु को तब-तब देना चाहिए जब भी उसके आचरण से “काम” बढ़े, समय “बर्बाद” हो, या

कुछ ऐसा करना पड़े जो असुविधाजनक हो। यहाँ धारणा यह है कि बच्चे की इच्छाओं की पूर्ति उसे “बिगाड़” देगी और उनके विरुद्ध जाने से उन्हें बस में किया जा सकेगा या उसे सामाजीकृत किया जा सकेगा। असलियत में दोनों ही मामलों में इसका ठीक उल्टा प्रभाव ही पड़ता है।

जन्म के तत्काल बाद का समय शिशु के लिए माता के शरीर से बाहर का सर्वाधिक प्रभावशाली समय होता है। बच्चा इस दौरान जिसका सामना करता है उसे ही वह जीवन की प्रकृति मानने लगता है। जिस समय उसके मन में बाहरी दुनिया की पहली छाप पड़ती है, तब उसके पास किसी तरह की पूर्व सूचनाएँ नहीं होतीं। उसके बाद के काल में हुए अनुभवों का प्रभाव कम या अधिक सीमा तक उन्हीं प्रथम छवियों के अर्थ को विशेषीकृत करने का होता है। उसकी अपेक्षाएँ जितनी दृढ़ या गैर-लचीली होती हैं, उतनी पहले कभी नहीं होतीं। गर्भ की संपूर्ण आवभगत के वातावरण से जो बदलाव जन्म के बाद होता है वह बड़ा भारी होता है। परन्तु जैसा हमने देखा वह गर्भ से ही इस बड़ी-भारी छलाँग लगा गोदी में आने की तैयारी के साथ आता है।

पर जिस बात की उसकी कोई तैयारी नहीं होती वह है शून्यता में कूद पड़ने की, अ-जीवन में, एक टोकरि जिसमें कपड़ा धरा हो, या प्लास्टिक के डब्बे में पहुँचने की, जिसमें न गति हो, न ध्वनि, न गंध हो, न ही जीवन को कोई अहसास। गर्भावस्था में माता-शिशु के बीच जो सातत्य कायम हुआ था उसे अगर हिंसक तरीके से तोड़ दिया जाए, तो इससे माँ में अवसाद के साथ बालक के लिए भी व्यथा ही उत्पन्न होती है।

शिशु की हाल में उधड़ी त्वचा का प्रत्येक पोर उस अपेक्षित आलिङ्गन की इच्छा करता है। उसका समूचा सत्त्व, वह जो कुछ है उसका चरित्र, उसे गोद में उठाए जाने की दिशा में बढ़ाता है। लाखों-करोड़ों वर्षों से नवजात शिशु जन्म के बाद से माँ के शरीर से चिपटे रहे हैं। संभव है कि पिछले सौ-एक पीढ़ियों से कुछ शिशुओं को इस अति-महत्त्वपूर्ण अनुभव से वंचित किया गया हो। परन्तु इस वंचना ने नवजात शिशु की इस उम्मीद को कम नहीं किया है कि उसे उसके सही स्थान पर रखा जाए। जब हमारे पूर्वज चौपायों की तरह चलते थे और उनके शरीर पर रोएँदार लोम होते थे, जिन्हें थाम उनसे चिपटा जा सकता था तब से ही शिशु स्वयं इस माता-शिशु जुड़ाव को निर्बाध कायम रखता था। उनका अस्तित्व ही इस जुड़ाव पर निर्भर होता था। पर जैसे-जैसे हम लोमरहित

बने और अपने पिछले पैरों पर खड़े हो गए, जिससे माँ के हाथ आज़ाद हुए, दोनों को साथ बनाए रखने का दायित्व भी माँ पर आ गया। दुनिया के कुछ स्थानों में हाल ही में कुछ माताओं ने संपर्क बना रखने के दायित्व को ऐच्छिक मान लिया है। परन्तु इससे गोद में उठाए जाने की शिशु की सशक्त ज़रूरत कतई नहीं बदली।

माँ स्वयं भी इससे अपने अपेक्षित जीवन अनुभव के एक बेहद कीमती भाग से वंचित हो रही है। अगर वह इस अनुभव का लुत्फ उठा पाती तो वह ऐसा आचरण करने को प्रोत्साहित होती जो स्वयं उसके और उसके शिशु के लिए बेहद लाभदायक होता।

गोद उठाए जाने की अवस्था के दौरान शिशु की चेतना में भारी परिवर्तन आता है। प्रारंभ में शिशु एक वयस्क मानव के बदले अन्य पशुओं की तरह ही अधिक होता है। चरण-दर-चरण, जैसे-जैसे उसका केंद्रीय स्नायु तंत्र विकसित होता जाता है, उसमें *होमो सेपियन्स* की विशिष्टताएँ नज़र आने लगती हैं। अब अनुभव उस पर सिर्फ कम या अधिक छाप नहीं छोड़ते बल्कि उसकी क्षमताओं के साथ-साथ कुशाग्रता बढ़ने के कारण अनुभव उस पर एक भिन्न प्रकार का प्रभाव डालते हैं। शिशु की मनोवैज्ञानिक संरचना के सबसे पहले स्थापित घटक उसके जीवन भर के नज़रिए का निर्माण करते हैं। वह सोचना प्रारंभ करे उसके भी पूर्व शिशु जो महसूस करता है वही यह निर्धारित करता है कि वह तब किस प्रकार की चीज़ों पर सोचेगा, जब उसके लिए सोचना संभव हो जाएगा।

सोच पाने के पूर्व अगर, वह आसपास हो रही गतिविधियों के बीच स्वयं को सुरक्षित महसूस करता है, अगर उसे लगता है कि उसकी आवश्यकता है, और वह स्वयं को सहज महसूस करता है, तो बाद के अनुभवों के प्रति उसका दृष्टिकोण ऐसे बालक से स्पष्टतः भिन्न होगा जिसने स्वयं को अवांछित, वंचित अनुभवों से अप्रेरित पाया हो, और जिसे अभाव की स्थिति में जीने की आदत पड़ गई हो। यह अंतर - उस स्थिति में भी होगा जब दोनों ही शिशुओं के बाद के अनुभव एक समान हों।

प्रारंभ में शिशु केवल गौर करता है, उसके पास तर्क बुद्धि नहीं होती। वह अपने आसपास के वातावरण से केवल जुड़ाव द्वारा ही परिचित होता है। बिल्कुल शुरुआत में जब उसकी इंद्रियाँ प्रसव के बाद प्रथम संदेश लाती है तब उनमें एक पूर्णता होती है, परिस्थितियों की एक अयोग्य (अनक्वालिफाइड) छाप, जो किसी अन्य वस्तु से संबंधित नहीं होती, सिवा शिशु की अंतर्जात अपेक्षा के। समय के गुज़रने के अहसास का वहाँ

अभाव होता है। अगर सातत्य इस प्रकार काम न करता तो नई-नई घटनाओं का सदमा ऐसा हो जाता जो किसी नए प्राणी के लिए असहनीय हो। स्वयं के बाहर होने वाली घटनाओं पर शिशु द्वारा ध्यान दे पाने की क्षमता के विषय में शुरुआत में जो गौर किया जा सकता है, वह है अहसास की गई वस्तु में और उसके पूर्व अनुभव से उसकी साम्यता के बीच अंतर। दुनिया के बारे में जुड़ाव द्वारा सीखने का अर्थ यह है कि शिशु जिससे पहले पूर्णतः अपरिचित था उसे अब वह समग्रता में ग्रहण करता है, बिना उसके बारे में किसी भी बात पर “गौर” किए। उसका ध्यान केवल बाद में होने वाले, समान पर कुछ भिन्न, अनुभवों पर ही जाता है। अतः वह दुनिया को पहले स्थूल रूप में पहचानना सीखता है, तब अधिकाधिक सूक्ष्म रूप में।

इस अर्थ में *होमो सेपियन्स* सभी पशुओं में अनोखा है। उसकी अपेक्षा एक उपयुक्त वातावरण को पाने की होती है, तब उसे *अधिकाधिक* सटीक रूप में जानने की, और उस पर क्रमशः बढ़ती कुशलता के साथ काम करने की। अन्य नर-वानर (प्राइमेट्स) उन स्थितियों से स्वयं को कमोबेश अनुकूलित कर लेते हैं, जो उनके सामने आती हैं। परन्तु पशु मुख्यतः अपनी अंतर्निहित प्रवृत्तियों के अनुसार आचरण करने के लिए रचित (क्रमशः विकसित) होते हैं।

एक विशाल चींटीखोर छौना, जिसे मैंने तब पाया था जब वह महज चार दिन का था, मानव समाज में खुशी-खुशी पला। ज़ाहिर है कि वह हम सबको भी चींटीखोर ही मानता था और अपेक्षा करता था कि हम उसके साथ कूद-फाँदकर चींटीखोरों के लिए उपयुक्त आचरण करेंगे। उसकी माँ के रूप में मुझसे उसकी यह अपेक्षा थी कि मैं लगातार उससे संप्रेषण में रहूँगी, पर जैसे-जैसे वह आत्मनिर्भर होता जाएगा, मैं उससे दूरी बढ़ाती जाऊँगी। अर्थात् प्रारंभ में उसे उठाए रखूँगी, तब उसे यह छूट दूँगी कि जब भी उसका जी चाहे उसे चिपटने दूँ, अपने पैरों की उंगलियाँ चाटने दूँ, जब वह भोजन करे, मैं उसके साथ रहूँ, और जब भी सूँघ पाने की सीमा से वह बाहर निकल जाए तो उसके पुकारने पर उसके पास आऊँ। पर वह कुत्तों और घोड़ों को अपना शत्रु मानता था; अपनी प्रजाति का नहीं मानता था।

एक झब्रू बंदरिया, जिसे भी मैंने उसके शैशव से पाला-पोसा था, इसके विपरीत स्वयं को एक व्यक्ति मानती थी। वह बड़े कुत्तों तक को हेठी से देखती थी, अगर कुछ

लोग समूह में बैठे हों, तो वह भी कुर्सी पर आ बैठती। कुत्ते उसके घमण्डी आचरण से इस कदर भ्रमित रहते थे (हांलाकि वे उससे दुगने आकार की बिल्ली का पीछा कर उसे भगा देते थे) कि वे आज्ञाकारी कुत्तों की तरह उसकी कुर्सी के पास आ बैठते। उसने मेज़ पर खाने का शिष्टाचार सीखा, और तकरीबन सालभर अवलोकन कर दरवाज़ा खोलना भी। वह कूद कर दरवाज़े की बाजू पर चढ़ बैठती और घुण्डी को घड़ी की विपरीत दिशा में घुमाती और दरवाज़ा खींच कर खोल लेती। उसके आचरण में चींटीखोर की तुलना में कहीं अधिक अनुकूलनशीलता थी, अपने निजी अनुभव से सीखने की उम्मीद। जबकि चींटीखोर का आचरण उसके आंतरिक तंत्रों से पूरी तरह पूर्व-निर्धारित था।

मनुष्य जो अपने अनुभवों से ही अधिक अनुकूलित होता है, अपने वातावरण की ऐसी विविधताओं से भी निपट सकता है, जो किसी कम चतुर प्रजाति को खत्म कर सकती हैं। किसी समस्या के समक्ष वह तमाम प्रतिक्रियाओं में से किसी एक विकल्प का चयन करता है। एक बंदर के समक्ष किसी उद्दीपन पर अनुक्रिया के विकल्प सीमित होते हैं; चींटीखोर के पास तो कोई विकल्प ही नहीं होते, अतः उसका स्वरूप त्रुटीहीन होता है। एक बन्दर सातत्य की दृष्टि से कुछ गलतियाँ कर सकता है, परन्तु मानव चुन पाने की अपनी क्षमता के कारण बेहद संवेदनशीलता (वलनरेबलिटि) भी पाता है।

आचरण के विकल्पों के बढ़ने तथा गलतियाँ करने की संभावना में वृद्धि के साथ, मानव में सातत्य का भाव भी क्रमशः विकसित हुआ है जो उसे उपयुक्त चयन की ओर झुकाता है। इस शक्ति को विकसित कर पाने के लिए उसे जिस प्रकार के अनुभवों की आवश्यकता होती है, और जिस प्रकार के वातावरण में वह उसका उपयोग करता है, उनके चलते उसके चुनाव भी चींटीखोर के समान ही त्रुटीहीन हो सकते हैं।

मानव शिशु जिन्हें पशुओं ने पाला-पोसा वे प्रजाति की विकसित अपेक्षाओं को पाने में उपयुक्त वातावरण के महत्त्व को और भी स्पष्टता से दर्शाते हैं।

दर्ज किए गए तमाम ऐसे मामलों में सबसे श्रेष्ठ आलेखन अमला और उसकी बहन कमला की कथा का है, जिन्हें शैशव से ही भारतीय जंगलों में भेड़ियों ने पाला था। जब वे मिली उन्हें एक अनाथालय में ले जाया गया। वहाँ रेवरेंड व श्रीमती सिंह ने उन्हें मानवीय समाज में दीक्षित करने की चेष्टा की। सिंह दंपति के अधिकांश प्रयास असफल रहे या उनको कम ही सफलता मिली। दोनों बच्चियाँ बेहद दुखी रहती और नग्न पड़ी

रहती जो भेड़ियों के लिये उपयुक्त थी। वे रात को सक्रिय होतीं और अपने दल को आकर्षित करने की कोशिश में अपने कमरे के कोनों से हूँआतीं। काफी प्रशिक्षण पाने के बाद कमला ने दो पैरों पर चलना सीखा, पर दौड़ते समय वह चौपायों की तरह ही दौड़ पाती। कुछ समय तक उन्होंने कपड़े पहनने से या पका खाने से इन्कार किया, उन्हें कच्चा और सड़ा-गला माँस ही पसंद आता था। सतरह वर्ष की आयु में अपनी मृत्यु से पहले कमला ने पचास शब्द सीखे थे। इस समय उसकी मानसिक आयु मानवीय मानकों के अनुसार साढ़े तीन वर्ष की आँकी गई थी।

अपनी प्रजाति के लिए अनुपयुक्त परिस्थितियों से अनुकूलित होने की क्षमता उन बच्चों में कहीं अधिक है जिन्हें पशुओं ने पाला हो, बनिस्बत किसी पशु द्वारा मानव के तौर-तरीकों से अनुकूलित होने की क्षमता के। परन्तु पशुओं द्वारा पोषित अधिकांश बच्चों की शीघ्र मृत्यु, पकड़े जाने के बाद उनकी पीड़ा, और स्थापित तथा विकसित पशु संस्कृति पर मानव संस्कृति आरोपित करने की अक्षमता, यह भी दर्शाती है कि एक बार जब संस्कृति सीख ली जाती है, वह इन्सान की प्रकृति का ही गहन भाग बन जाती है। *एक संस्कृति में भागीदारी की अपेक्षा करना हमारे क्रमविकास का उत्पाद है और उन अपेक्षाओं का भी जो इस बुनियादी अपेक्षा के बाद प्राप्त की जाती हैं। और जब उन्हें हमारे व्यक्तित्वों के अभिन्न हिस्से के रूप में आत्मसात कर लिया जाता है, वे अन्य प्रजातियों के अंतर्जात तरीकों से ही बन जाते हैं।* यही कारण था कि जंगल में पले बच्चे, मानव होने के नाते किसी पशु की तुलना में अपने अनुभव से अधिक प्रभावित और एक अन्य पशु के आचरण में इतनी पूरी तरह पोषित हुए कि वातावरण के बदलने पर उपजा दबाव ऐसी स्थिति में पशुओं में नज़र आने वाले दबाव से कहीं अधिक रहा। उनमें पशुओं से अधिक ऊँचे स्तर का अन्तर्जात आचरण (जिस पर प्रभाव न डाला जा सके) सुदृढ़ हो चुका था।

अपने आप में देखें तो कमला की मानसिक आयु का कम होना एक निरर्थक घटक था। परन्तु अगर इसे एक मानव के रूप में जन्मे व्यक्ति के सातत्य की दृष्टि से देखें, जिसे भेड़िए की तरह पाला-पोसा गया हो, तो संभवतः यह उस परिस्थिति में एक अच्छे मस्तिष्क के अधिकतम उपयोग का ही प्रतिनिधित्व करता लगेगा। उसकी अन्य क्षमताएँ, एक चौपाए के रूप में उसकी फुरती, उसकी घ्राण शक्ति (वह अस्सी गज़ की दूरी से



माँस को सूँघ सकती थी), रात में उसकी दृष्टि, उसकी गति, तापमान में आए बदलावों में स्वयं को अनुकूलित कर पाने की शक्ति, असाधारण थीं। शिकार करते समय फैसले लेने और उसका दिशाबोध भी असामान्य रहा होगा, क्योंकि इसी के सहारे वह एक भेड़िए की तरह बची रह सकी। कुल मिलाकर उसका सातत्य उसके लिए काम का रहा। अपनी संभावनाओं से उसने वह सब विकसित किया, जो उसकी जीवन शैली के लिए आवश्यक था। यह तथ्य गौण है कि वह अपने पूर्व के विकास को खारिज कर उस पूर्णतः नए विकास से बदल नहीं सकी। ऐसा कोई कारण ही नहीं, जिसके चलते किसी भी प्राणी को ऐसे असंभव संकट के लिए अनुकूलित होने की ज़रूरत पड़े। किसी बड़े मनुष्य से भी यह उम्मीद नहीं रखी जा सकती कि जब उसका आचरण मानव समाज के लिए अनुकूलित हो जाए, उसके बाद वह सफलतापूर्वक किसी पशु का सा आचरण कर सकेगा।

प्रारंभ से ही सीखना चयनात्मक होता है, जिस प्रकार का जीवन हमें जीना है के बारे में जो कुछ हम व्यक्तिनिष्ठ रूप में जानते हैं, उसीसे हम प्रासंगिक चीज़ें सीखते हैं। सहचारी (एसोसिएटिव) प्रक्रिया यह सुनिश्चित करती है। जैसे विभिन्न तरंगदैर्घ्य की ध्वनियों को प्राप्त करने की क्षमता रखने वाले रेडियो को सिर्फ एक चुनिंदा तरंगदैर्घ्य पर ही सुनने को सीमित कर दिया जाता है। ठीक उसी तरह मनो-जैविक अभिग्राहक (रिसेप्टर) भी अनेकानेक संभावनाओं से प्रारंभ करता है और जल्दी ही आवश्यक क्षेत्र पर स्थिर हो जाता है। मनुष्य की जीवनशैली के अनुरूप उसके देख पाने का सर्वोत्तम क्षेत्र दिन में देखने तक और कुछ हद तक रात्रि दृष्टि तक सीमित है तथा रंगों का उसका फलक लाल से लेकर बैंगनी तक है। जो वस्तुएँ बेहद छोटी या बेहद दूर हों वे हमारी दृष्टि सीमा से गायब हो जाती हैं। बीच की दूरी में, जहाँ सभी ओर क्या हो रहा है को देखना उपयोगी है, वहाँ हमारी नज़र पैनी होती है। जब कोई रोचक वस्तु या व्यक्ति पास आने लगता है परिधि की दृष्टि धूमिल होने लगती है, जब तक कि वह काफी निकट न आए। मध्यम दूरी की दृष्टि पर से ध्यान हट कर दृष्टि अधिक प्रभावी रूप से पास की वस्तु पर टिक जाती है, ताकि बिना किसी व्यवधान के सामने वाली वस्तु से निपटा जा सके। अगर उस वस्तु के आस-पास जो कुछ है वह भी उतना ही स्पष्ट बना रहता तो इंद्रियों पर बोझ बढ़ जाता और मस्तिष्क के कार्य में बाधा आती, जिसे अधिकतम

कुशलता के लिए एक ही वस्तु या उसके भी किसी एक पक्ष पर एकाग्र रहना है। संस्कृति के अनुसार व्यक्ति की दृष्टि के क्षेत्र चुने जाते हैं, बेशक ये मानव के क्रमशः विकसित प्रकृति की सीमाओं में ही रहते हैं।

जिन बच्चों को भेड़ियों ने पाला था, उनकी रात्रि दृष्टि बेहद पैनी बताई गई थी। येक्वुआना लोग जंगल के छायादार भाग में एक नन्ही-सी चिड़िया के आकार को देख पाते हैं। जिस जगह वे उसे देखते हैं वहाँ हमें सिर्फ पत्ते ही दिखाई देंगे। तब भी जब उनमें से कोई इशारा कर बता दे कि पक्षी कहाँ बैठा है। वे तेज़ प्रवाह के झागदार पानी में मछली देख लेते हैं, जो हमारी आँखों के केंद्रित प्रयासों के बावजूद हमें नज़र तक नहीं आती।

श्रवण भी चयनात्मक होता है — उन ध्वनियों तक सीमित, जिन्हें हमारी संस्कृति प्रासंगिक बताती है। शेष ध्वनियाँ गायब हो जाती हैं। हमारा श्रवण तंत्र दरअसल जितना-सा हम सुनने के लिए उसका उपयोग करते हैं, उससे कहीं अधिक सुनने की क्षमता रखता है। दक्षिण अमरीका के जिन इण्डियनों को मैं जानती थी वे सभी जंगल में उन खतरों और शिकार की ध्वनियों को सुनने के आदी होते हैं जो चंद फीट की दूरी पर छुपे हुए हों। साथ ही नौकाओं की मोटरों या हवाईजहाज़ की आवाज़ को भी उनके कान हमसे काफी पहले ही पकड़ लेते थे।

उनकी श्रवण शक्ति की दूरी उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप है और हमारी हमारे लिए बेहतर। हमारे कान उन सारी ध्वनियों को हटा देते हैं जो हमारे लिए निरर्थक शोरगुल ही सिद्ध हों। हमारी संस्कृति में ऐसा कुछ भी नहीं है जो दो सौ गज़ की दूरी पर घुरघुराहट से जग जाने को, नींद में खलल से अधिक कुछ बना सके।

मस्तिष्क को असंपादित संवेदनों की बाढ़ से बचाने के लिए हमारा स्नायुतंत्र संपादन का काम करता है। ध्वनियों के प्रति हमारा ध्यान केन्द्रित व विकेन्द्रित किया जा सकता है, ऐसा तब नहीं जब हमारी इच्छा हो, बल्कि संपादन तंत्र के अनुकूलन के हिसाब से। हालाँकि श्रवण तंत्र, कभी बंद नहीं किया जा सकता, सुनाई देने वाली कुछ ध्वनियाँ हमारा चेतन मस्तिष्क कभी सुनता ही नहीं है। वे शैशवकाल से मृत्यु पर्यंत अवचेतन ही रहती हैं। सम्मोहन शक्ति का मंच पर प्रदर्शन करने वाले एक ठेठ प्रदर्शन करते हैं। जिसमें सम्मोहित व्यक्ति से कहा जाता है कि वह उस बात को सुने जो एक असंभव दूरी पर फुसफुसाई जा रही हो। जिस व्यक्ति को सम्मोहित किया जाता है उसकी सुन पाने की

सामान्य दूरी को सम्मोहनकर्ता उस असंभव दूरी पर स्थानान्तरित कर देता है। वह यह भ्रम पैदा करने में सफल होता है कि उसने श्रवण शक्ति को बढ़ा दिया है जबकि दरअसल सम्मोहनकर्ता कान के (अनुपयुक्त भाग द्वारा) ध्वनियों को संपादित करने की शक्ति को ही निलंबित कर देता है।

जिन शक्तियों को हम अलौकिक या चमत्कारिक कहते हैं वे अक्सर ऐसी शक्तियाँ होती हैं जिन्हें स्नायु तंत्र ने हमारी क्षमताओं के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए अनुपयुक्त मान, चुना ही न हो। (ऐसा सातत्य के आग्रह से होता है)। उन्हें ऐसे अनुशासनों द्वारा विकसित किया जा सकता है, जो निष्कासन की सामान्य प्रक्रिया पर हावी हो पाते हों या फिर वे दबाव की स्थितियों में प्रकट हो जाती हैं। जैसाकि एक दस वर्षीय बालक के मामले में तब हुआ जब उसका भाई एक पेड़ के नीचे दब गया। भय से त्रस्त बच्चे ने मदद के लिए दौड़ने से पहले पेड़ को भाई के शरीर से दूर हटा दिया। बाद में पता चला कि जिस पेड़ को असाधारण मानसिक दबाव में उस नन्हे ने हटा दिया था, उस तने को उठाने में एक दर्जन पुरुषों की जरूरत पड़ेगी। इस तरह की तमाम कहानियाँ हैं। वे जिन ताकतों का बयान करती हैं वे केवल विशेष परिस्थितियों के लिये ही मुक्त होती हैं।

इस नियम के रोचक अपवाद वे व्यक्ति होते हैं, जिनका संपादन तंत्र किसी तरह अस्थायी या स्थायी रूप से क्षतिग्रस्त हो जाता है, और जो अतिइन्द्रियदर्शी (क्लैरिवॉयेन्ट) बन चुके होते हैं। यह सब कैसे होता है, यह समझने का दावा मैं नहीं करती पर कुछ लोगों के पास भूजल या दबी हुई धातु को देखने की क्षमता होती है। कुछ अन्य लोगों के गिर्द प्रभामंडल देख पाते हैं। पीटर हुरकोस तब अतिइन्द्रियदर्शी बना जब वह सीढ़ी से गिरा और उसके सिर पर चोट लग गई। मेरी दो सखियों ने मुझे भविष्य में देख पाने की अपनी भयावह क्षमता के विषय में तब बताया जब वे अपना मानसिक संतुलन खोने के कगार पर आ गई थीं। ये कहानियाँ उन दोनों ने अलग-अलग सुनाई थी, जबकि दरअसल वे एक दूसरे को जानती तक नहीं थीं। वे दोनों ही अतिइन्द्रिय दृष्टि की घटना के कुछ ही दिनों बाद अस्पताल में दाखिल हुईं और यह अनुभव उन्हें फिर कभी नहीं हुआ। अगर मानवीय समझ की सीमाएँ टूटती हैं, तो अमूमन यह तब होता है जब भावनाओं पर हद से ज्यादा दबाव पड़ता है। दुर्घटनाओं में जब पीड़ित व्यक्ति बिना किसी पूर्व-चेतावनी के अचानक अपनी मृत्यु की अवश्यंभाविता का सामना करता है, उसके

सातत्य को उसे इस संभावना के लिए तैयार करने का मौका नहीं मिला होता। ऐसे में वह अपनी असहायता में अपनी माता, या जो कोई भी उसकी भावनाओं में माता के स्थान पर हो, उसकी ओर हाथ बढ़ाता है। अक्सर माता या मातासम व्यक्ति तक यह संदेश पहुँच जाता है, फिर चाहे वह कितना भी दूर क्यों न हो। ऐसी स्थिति इतनी अधिक बार होती है कि हममें से अधिकांश ऐसे मामलों के बारे में जानते हैं। या सुन चुके होते हैं।

पूर्वभास इससे उलटे तरीके से काम करता है। ऐसी कोई अज्ञात घटना जिसके भयावह परिणाम हों, किसी पूर्णतः शांत व्यक्ति की चेतना में, सपने में या जागृत अवस्था में, अचानक कौंध जाती है। पूर्वाभास के तमाम ऐसे मामलों पर गौर ही नहीं किया जाता, और क्योंकि ऐसी बातों पर विश्वास करना वर्जित होता है हम उन्हें पहचान भी नहीं पाते। एक अस्पष्ट-सा वक्तव्य, जैसे “मुझे लगा था, कि मुझे आना नहीं चाहिए”, उसी पूर्वाभास की स्वीकारोक्ति होती है, जिसे अन्य दबावों के चलते हमने खारिज कर दिया था।

जो घटनाएँ घटी न हों उनको देख पाना कैसे संभव है? घटने के पहले उनका अस्तित्व कैसे हो सकता है, मुझे मामूल नहीं। परन्तु अतीत या वर्तमान की उन घटनाओं का ज्ञान होना भी उतना ही रहस्यमय है, जिनकी जानकारी इन्द्रियों की मदद लिए बिना हो जाती है। इसी तरह के संप्रेषण, जैसे हाल में ढूँढे गए रासायनिक तत्वों के संकेत जो पशुओं को एक खास तरह का आचरण करने पर बाध्य करें, या प्रवासी पक्षियों में जो दिशा तलाशने में मददगार तंत्र हैं, ये भी हमारी समझ से पूरी तरह बाहर ही हैं।

चेतन मस्तिष्क वह नहीं है जो स्वयं उसे आभासित होता है। न ही उसकी पहुँच उन प्रोग्रामिंग रहस्यों तक होती है, जिसकी सेवा करने के लिए उसका विकास हुआ है। सातत्य दर्शन का मुख्य लक्ष्य बुद्धि को एक कुशल सेवक बनाने का है, न कि एक अकुशल स्वामी बनाने का। अगर सही उपयोग किया जाए तो बुद्धि एक अमूल्य परिसंपत्ति होती है। मानव की बुद्धि विविध प्रकार के पशुओं, वनस्पतियों, खनिजों और सामने पेश आई घटनाओं के संबंधों तथा गुणों को देख उनका श्रेणीकरण कर, समझ कर, तमाम सूचनाओं को एकत्रित कर सकती है, एक-दूसरे को प्रेषित कर सकती है। ये सूचनाएँ वातावरण को एक अधिक समावेशी तथा लचीले तरीके से उपयोगी बनाती है, जो अन्य पशु नहीं कर सकते। इससे वातावरण के उतार-चढ़ाव के समक्ष मनुष्य की संवेदनशीलता (वलनरेबिलिटी) घट जाती है। वह अपने आस-पास के तत्वों के प्रति कैसा

आचरण करे, इस संबंध में उसके विकल्प बढ़ जाते हैं और उनके बीच मानव की स्थिति अधिक स्थिर भी बन जाती है।

बुद्धि का एक नैसर्गिक संतुलन होता है। अगर यह संतुलन न गड़बड़ाए तो वह सातत्य के भाव का तब संरक्षक बनता है, जब वह उसके आदेशों के प्रति सचेत रहे और उनके अनुरूप कार्य करे। तर्क बुद्धि, व्यक्तिगत अनुभवों पर आधारित फैसले तथा अन्य लोगों के संप्रेषित अनुभव, आगमन तथा निगमन विधि-द्वारा विचारों तथा स्मृतियों के अनंत उपयोगी संमिश्रणों तक पहुँचने की क्षमता आदि मानव बुद्धि को मूल्यवान बनाते हैं और समस्त मानव प्रजाति के हित साधने के साथ व्यक्ति के हितों की भी रक्षा करते हैं।

उदाहरण के लिए, अगर कोई यह तय कर ले कि उसे वनस्पतिशास्त्र के सभी पक्षों से परिचित होना है, तो सामंजस्यपूर्ण बुद्धि जिसमें सातत्य का भाव पूर्णतः विकसित हो और सही तरह से काम कर रहा हो, वह भारी मात्रा में सूचनाएँ ले सकती है। कई आदिम संस्कृतियों के अवलोकनकर्ताओं के प्रतिवेदन स्पष्ट करते हैं कि उनके समाज के प्रत्येक पुरुष, स्त्री व बालक के दिमाग में सैकड़ों या हजारों पेड़-पौधों के नाम और गुणों की वृहद विस्तृत सूची होती है।

ऐसे ही एक अवलोकनकर्ता ई. स्मिथ बोवेन ने एक अफ्रीका — कबीले और उसके प्रत्येक सदस्य के वनस्पति जगत के वृहद ज्ञान के विषय में टिप्पणी करते हुए कहा था, “उनमें से किसी को कभी यह विश्वास ही नहीं हुआ कि मैं चाहूँ तो भी इस विषय में उनके जितना ज्ञान पाने में अक्षम हूँ।”

मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि आदिम लोग अंतर्जात रूप से हमसे अधिक बुद्धिमान हैं, पर मैं इतना अवश्य मानती हूँ कि मस्तिष्क की प्राकृतिक संभावनाएँ विकृत व्यक्तित्व के दबावों से क्षतिग्रस्त हो जाती हैं।

किसी ऐसे समाज का संपूर्ण सदस्य होने पर; जो उससे यह उम्मीद रखता हो, मानव बुद्धि आश्चर्यजनक मात्रा में सूचना को याद कर लेती है और भविष्य में उसका उपयोग करने के लिए उसे बनाए रख सकती है। सभ्य समाजों में भी निरक्षर लोग, जो हमारी तरह सूचना एकत्रण की जिम्मेदारी पुस्तकों पर नहीं डाल देते, उनकी स्मृति भी हमसे कहीं अधिक विकसित होती है। परन्तु अगर उनके स्वयं अपने व अपनी दुनिया के साथ अधिक शांतिमय संबंध होते तो संभवतः उनकी स्मृति और भी अधिक विकसित होती।

शिशु मस्तिष्क को जिस प्रकार अनुकूलित किया जाता है, वही मुख्य रूप से यह निर्धारित करता है कि वह अपने जीवन में जिन गुणों का उपयोग करेगा वे कौन-कौन से होंगे। उसकी अपेक्षा रहती है कि अनुभव उसे आवश्यक संकेत देंगे, यह भी कि ये संकेत बड़ी मात्रा में और विविध होंगे। साथ ही उसकी यह अपेक्षा भी होती है कि जो अनुभव उसे संकेत देते हैं उनका उन स्थितियों पर प्रत्यक्ष तथा उपयोगी प्रभाव होगा, जो भविष्य में उसके जीवन में उसके समक्ष आएँगी।

जब बाद के अनुभवों का चरित्र वैसा नहीं होता जैसा उसे अनुकूलित करने वाले अनुभवों का था, तो वह उन्हें वैसा ही चरित्र पाने के लिए प्रभावित करने की चेष्टा करता है। चाहे यह प्रभाव स्थिति को बेहतर बनाए या बदतर। अगर वह अकेलेपन का आदी हो जाता है, तो वह अवचेतन रूप से अपने मामलातों को इस प्रकार व्यवस्थित करता है ताकि उसके एकाकीपन का स्तर कायम रहे। अगर वह स्वयं या उसकी परिस्थितियाँ उस एकाकीपन को घटाने या बढ़ाने की चेष्टा करें जिसकी उसे आदत है, तो उसकी स्थायित्व की प्रवृत्ति द्वारा इसका विरोध होगा।

यहाँ तक कि जिस दर्जे की फिक्र करने की आदत हो वह भी कायम रखी जाती है। इसलिए क्योंकि अचानक “चिंता करने को कुछ भी न बचे” तो यह स्थिति एक अधिक गहन और कहीं गंभीर प्रकार की चिंता पैदा करती है। जो व्यक्ति स्वाभाविक रूप से संकट के कगार पर रहता रहा हो, उसको सुरक्षित स्थान उपलब्ध करवा देना उतना ही असहनीय लगेगा, जितना उसके सबसे भयावह डर का साकार हो जाना। यहाँ वह प्रवृत्ति काम करती है जो शैशवकाल में स्थापित कुशलक्षेम के उच्चतम स्तर के भाव को कायम रखती है।

व्यक्ति की सफलता या असफलता या सुख या दुख में आमूल-चूल बदलाव, और स्थापित सह-संबंधों में पूर्ण परिवर्तन का, हमारे अंतर्निहित स्थिरकों (स्टेटबिलाइजर्स) द्वारा विरोध होता है। और हम अक्सर स्वयं को अपनी पूरी इच्छाशक्ति से ऐसे परिवर्तनों के विरुद्ध जुझते पाते हैं। इच्छाशक्ति बिरले ही “आदत” की ताकत पर खास असर डाल पाती है। परन्तु कई बार बाहरी घटनाएँ व्यक्ति पर बदलाव थोप देती हैं। ऐसे में जिन स्थितियों को यथावत् आत्मसात नहीं किया जा सकता, उनमें स्थिरक संतुलन पैदा करते हैं। असहनीय सफलता या असफलता के दंश को चुनौतीपूर्ण परन्तु परिचित समस्याएँ,

जैसे विकर्षण (डिस्ट्रैक्शन) कम कर देते हैं।

एक अपरिवर्तनशील बदलाव के लिए जिस प्रकार के अनुकूलन की आवश्यकता होती है, उसमें जब यथास्थिति को पुनः स्थापित करने की हरेक कोशिश असफल हो जाए, तो व्यक्ति को संघर्ष से पीछे हटना पड़ता है। उसे तटस्थ हो जाना पड़ता है और जीवन ने जो नई परिस्थिति ला दी है उस तरफ स्वयं को पुनर्अभिमुख करना पड़ता है। ऐसा करने के लिए कभी-कभी किसी बीमारी या ऐसी दुर्घटना की ज़रूरत पड़ती है जो पीड़ित को उतने समय के लिए गतिहीन कर दे ताकि वह विश्राम कर सके। नई स्थिति के अनुरूप अपनी शक्तियों को पुनः संगठित कर सके। स्थिरता पाने की प्रवृत्ति भी संतुलन पाने के लिए शरीर का उपयोग करती है। वह शरीर को रोग के समक्ष उस समय घुटने टेक देने देती है, जब “देखभाल” की भावनात्मक आवश्यकता हो और कोई संभाव्य मातृवत् देखभाल करने वाला उपलब्ध हो। जब व्यक्ति पर उसके कुशलक्षेम के भाव को डिगाने की हद तक दबाव पड़े, या उसे अपने सामान्य आचरण से भिन्न आचरण करना पड़े तो उसे ऐन वक्त पर जुकाम भी हो सकता है।

जीवन को सहनीय बनाने के लिए कुछ लोग भारी नियमितता के साथ भीषण शारीरिक तकलीफ की स्थिति में रहते होंगे (जैसे जो बारंबार दुर्घनाग्रस्त होते हैं)। और कुछ लोग अपनी देखभाल की, विकर्षण की, या दण्ड की, जैसी भी उनकी आवश्यकता हो, के चलते स्थाई रूप से बीमार रहते होंगे। कुछ अन्य अपने प्रति आवश्यक संबंध कायम रखने की गरज से एक कमज़ोरी की स्थिति विकसित कर लेते होंगे, और केवल तब ही वास्तव में बीमार पड़ते होंगे जब उनसे दूसरे लोग ज़रूरत से ज्यादा खराब या अच्छा व्यवहार करें।

मेरे परिचितों में से स्थायित्व पाने के लिए रोग का उपयोग करने का एक अतिवादी मामला एक स्त्री का था, जिसके मन में असहनीय अपराध बोध बसा था। यह अपराधबोध ही उसके रोगों की जड़ थी।

मेरी इस मित्र के साथ जो प्रारंभिक आचरण हुआ था, उससे उसके शिशु मस्तिष्क में यह अपरिवर्तनीय सबूत बैठा दिया गया था कि वह “बुरी” है। यह प्रारंभिक आचरण कैसा रहा होगा, वह मैं नहीं जानती और शायद वह स्वयं भी नहीं जानती। पर उसका जुड़वां भाई, जो शायद उसकी यातना का सहभागी रहा होगा, उसने इक्कीस वर्ष की

आयु में आत्महत्या कर ली। इस अतिरिक्त, अलबत्ता अतार्किक, अपराधबोध के कारण, जो अपने सहोदर की मृत्यु से व्यक्ति के मन में उपजता है, और जुड़वाँ भाई-बहनों में और निकटता पैदा करता है, मेरी मित्र ने स्वयं को दण्डित करने के लिए उपयुक्त सजा तलाशनी शुरू की। इसलिए ताकि वह ऐसा संतुलन बना सके, जिसके साथ जीना उसके लिए संभव हो। उसके क्षतिग्रस्त सातत्य के स्थिरक तंत्र ने, अपने तौर-तरीके उसकी संस्कृति से ग्रहण करते हुए “सफल” जीवन के खतरे को कम कर दिया, मानो सफलता उसके भाई का ही मृत शरीर हो। शैशावावस्था का अपराधबोध जो पहले दबा दिया गया होगा, भाई की आत्महत्या से फिर बाहर उभर आया। उसका अनुकूलन स्वयं के लिए किसी भी प्रकार का सौभाग्य स्वीकार नहीं कर सका।

कुछ ही वर्षों के दौरान उसके दो अवैध संतानें हुईं, जिनमें एक किसी अन्य प्रजाति के पुरुष से थी और दूसरी एक अज्ञात व्यक्ति से। उसने कई ऐसी नौकरियाँ कीं जो उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि के लिए अपमानजनक थीं। उसे पोलियो हुआ, जिससे वह शेष जीवन भर व्हीलचेयर से बंध गई। जब वह अस्पताल में पोलियो के कारण दाखिल थी, उसे क्षय रोग हुआ। उसका एक फेफड़ा इससे पूरी तरह नष्ट हो गया और दूसरा गंभीर रूप से क्षतिग्रस्त। उसने अपने बाल एक भद्वे बैंगनीपन लिए लाल रंग में रंग डाले जिससे उसके चेहरे का स्थाई सौंदर्य नष्ट हो गया। वह एक असफल कलाकार के साथ रहने लगी जो उम्र में उससे काफी बड़ा था।

अंतिम बार जब उससे संपर्क हुआ, उसने मुझे अपनी सामान्य खुशामिजाजी के साथ बताया कि वह एक पार्टी के बाद सफाई कर रही थी कि वह व्हीलचेयर से गिर पड़ी और उसका एक पंगु पैर टूट गया था।

वह कभी उदास नहीं रहती थी और कभी शिकायत नहीं करती थी। बल्कि जैसे-जैसे एक के बाद एक संकट उस पर टूटते गए वह अधिकाधिक प्रसन्नचित्त लगने लगी। मानों उसका आंतरिक बोझ इन संकटों से छंटता गया हो। मैंने एक बार उससे पूछा कि मेरी यह समझ दरअसल सच है या महज मेरी कल्पना ही कि वह अपंग बनने के बाद से अधिक प्रसन्न हो गई है। उसने फौरन जवाब दिया कि वह अपने जीवन में इससे ज्यादा खुश पहले कभी नहीं रही थी।

ऐसे ही आधा दर्जन अन्य मामले भी याद आते हैं। इनमें कई ऐसे पुरुष थे, जिन्होंने



अपने शारीरिक आकर्षण को छिपाने के लिए दाढ़ी बढ़ा ली और चेहरे पर चोटों के निशान पा लिए। इसलिए क्योंकि यह आकर्षण उनका जीवन असहनीय रूप से आरामदायक बना देता था। स्त्रियों में ऐसा प्रेम भाव जगाता था जो उनके मन में बसी प्रेम न करने के योग्य होने ही छवि के विरुद्ध था।

ऐसे पुरुष और स्त्रियाँ, दोनों ही होते हैं, जो केवल ऐसे लोगों के प्रति आकर्षित होते हैं, जिनकी उनमें रुचि लेने की संभावना ही न हो।

हर तरह की असफलता को सामान्यतः, क्षमता के अभाव, दुर्भाग्य, या स्पर्धा से नहीं, बल्कि व्यक्ति की ऐसी स्थिति कायम रखने की वृत्ति से जोड़ा जा सकता है जिसमें उसने सहज रहना सीख लिया हो।

सो जब शिशु स्वयं से पृथक अन्य सभी से अपने संबंध की छवि बनाता है, वह दरअसल उस ढाँचे को गढ़ता है जो आजीवन उसका आवास बनेगा। जिसके संदर्भ में वह सब कुछ देखेगा, उसी से वह सब कुछ को नापेगा और संतुलित करेगा। उसका आंतरिक स्थिरक तंत्र उसे ही कायम रखने के लिए काम करेगा। उसकी अंतर्जात संभावनाओं को पूरी तरह पनपाने के लिए उसे अनुभव के आधार की आवश्यकता होती है। इस आधार से वंचित शिशु संभवतः पल भर के लिए भी उस शर्तहीन सहीपन का अनुभव नहीं कर पाएगा जो उसकी प्रजाति के इतिहास के 99.99 प्रतिशत भाग में स्वाभाविक होती है। जिस हद तक शैशवकाल में शिशु ने परेशानी और सीमाओं के रूप में प्रवंचना (डिप्रिवेशन) झेली हो, वह उसी हद तक विवेकहीन रूप से उसके विकास के हिस्से के रूप में कायम रखी जाएगी। सहजवृत्ति की शक्तियाँ तर्क-वितर्क नहीं करतीं। वे प्रकृति के तौर-तरीकों के अपने अनुभव से यह मान कर चलती हैं कि अगर प्रारंभिक अनुभवों के अनुरूप वे स्थिर हो सकें तो यह उस व्यक्ति के लिए उपयुक्त स्थिति होगी।

यह तथ्य कि कुशलक्षेम कायम रखने के लिए मिली यह सहायता उसके लिए एक क्रूर जाल बन सकती है, मानों एक सचल कारागार में उम्रकैद, एक ऐसी संभावित घटना जो क्रमविकास की प्रक्रिया से इतनी दूरस्थ है, और पशु के इतिहास में इतनी-हालिया, कि इसकी पीड़ा को कम करने के लिए हमारी प्रकृति में बेहद अल्प प्रावधान हैं। फिर भी कुछ प्रावधान अवश्य हैं। वंचित को इस अनुचित वास्तविकता के पूरे दंश से बचाने

के लिए स्नायुरोग (न्यूरोसिस) तथा मनोविकृतियाँ (इनसैनिटीज़) हैं। असहनीय पीड़ा हो तो ज़ड़ता आ जाती है। दूसरों को इस कैद से मौत ही छुटकारा दिलाती है। आमतौर पर उन लोगों को जिनकी किसी मातृवत् व्यक्ति की आवश्यकता प्रौढ़ या वृद्धावस्था तक बनी रही हो, और वह व्यक्ति जो इस भूमिका को निभाता रहा/रही हो, वह पीछे हट जाए, या उसकी मृत्यु हो जाए, या फिर वह किसी सचिव के साथ भाग जाए, या कोई और तरीका अपना ले। अगर निर्भर व्यक्ति को नया सहायक तलाशने की कोई उम्मीद ही न हो तो वह अपने उस आंतरिक व बाहरी खालीपन के साथ जी नहीं पाता, जिसे वह गायब हो चुका व्यक्ति अपनी उपस्थिति से भरता था।

जो व्यक्ति शैशवकाल को पूरी तरह समृद्धता से जिया हो, इसलिये वह, अपने आगे के जीवन से भी पूर्णता पाता है, उसके लिए अपने लंबे अर्से के साथी का चला जाना किसी भी उम्र में “सब कुछ” खो देने के समान नहीं होता। उसका स्व कोई ऐसा खाली पात्र नहीं होता जिसमें अर्थ या प्रेरणा भरने के लिए वह किसी दूसरे पर निर्भर हो। पूर्वतः वयस्क स्व शोक मनाएगा, पर तब अपनी शक्तियों को पुनः इकट्ठा कर, संभवत इसी पीछे हटने के काल में ही, बदली परिस्थितियों से समझौता करेगा।

विकसित संस्कृतियों में तथा कई सभ्य संस्कृतियों में भी शोक काल की प्रक्रिया के लिए सहायक कर्मकाण्ड होते हैं (सामूहिक विलाप, अनुष्ठान, बैठकें)। खासकर तब जब उस संस्कृति में जो साथी बचा रहा हो उसके या उसके बच्चों या अन्य आश्रितों की लगातार ज़रूरतों के लिए, उनके नए जीवन के लिए कोई सटीक प्रक्रिया न हो। ऐसी स्थिति में अक्सर एक नियत अवधि होती है जिसमें वे अपने जीवन को एक भिन्न दिशा दे सकें। इस दौरान समाज उनको सहयोग देता है। काले या श्वेत वस्त्र पहनना या कोई दूसरा चिन्ह धारण करना जो यह स्पष्ट संकेत दें कि वे खेल से बाहर हैं, मानो उसके जीवन के रंग ही मिट चुके हों। यह संकेत उसकी कोषावस्था की स्थिति को रेखांकित करते हैं और समाज से स्वीकृति और अनुग्रह की मांग करते हैं।

सभ्य बुद्धि ने इन लोकाचारों के विकसित स्वरूपों को नष्ट कर या उनके कार्य को कमतर कर उन्हें विकृत अतिशयोक्ति में बदल दिया है। परन्तु इसका उस वास्तविक आवश्यकता से न तो कोई संबंध है, ना ही इससे उसके उद्भव की सत्यनिष्ठा व पूर्णता ही बदलती है। जिन संस्कृतियों में शोक के प्रावधान अपर्याप्त हों, या हों ही नहीं, उनमें

सातत्य प्रावधान के स्थिरक इसकी उपेक्षा भी नहीं करते। समानांतर अनिवार्य आवश्यकताओं की ही तरह, ऐसी स्थितियों में भी स्थिरक आश्रय उत्पन्न करते हैं। अगर पुनर्वास की अवधि के दौरान कोई बेहतर अवसर न मिल पाए तो ये अक्सर बीमारी या दुर्घटना का रूप धर कर आते हैं।

व्यक्ति के वातावरण में परिवर्तन से जिस हद तक पीड़ा उत्पन्न होती है, वह स्थितिस्थापन (रेज़िलिएन्स) की उसकी अंतर्जात संभावना किस हद तक विकसित है, पर निर्भर करती है। इसी पर वह सुधार भी निर्भर करता है, जो बाद में होता है।

हम सातत्यमय व सातत्यहीन शिशु जीवन के विषय में कैसे जान सकते हैं? हम शुरुआत येक्वुआना जैसे लोगों के अवलोकन से कर सकते हैं और तब हम अपनी संस्कृतियों के सदस्यों को अधिक सावधानी से पुनः देख सकते हैं। पाषाण युगीन और सुसभ्य संस्कृतियों के गोद के बच्चों की दुनियाओं में उतना ही अंतर होता है जितना दिन और रात में होता है।

जन्म के बाद से ही सातत्यमय शिशुओं को हर जगह ले जाया जाता है। शिशु की नाल झड़े उसके भी पहले उसका जीवन सक्रियता से भरा होता है। बेशक वह अधिकांश समय नींद में होता है, पर सोते-सोते ही वह अपने लोगों की ध्वनियों का आदी होने लगता है। उसे उनकी गतिविधियों की आवाज़ों, टकराने, धकियाने और बिना किसी चेतावनी के चल पड़ने की, उसके शरीर के विभिन्न भागों को उठाने या उन पर दबाव पड़ने की आदत पड़ने लगती है। इसलिए क्योंकि उसकी देखभाल करने वाली माँ, अपने काम या सुविधानुसार उसे इधर-उधर हिलाती-सरकाती है। उसे दिन और रात के लय की, उसकी चमड़ी पर विविध प्रकार के स्पर्श और बदलते तापमान की, और किसी जीवित शरीर के सुरक्षित और सही लगने वाले स्पर्श की आदत पड़ जाती है। उसके वहाँ होने की तीव्र आवश्यकता पर उसका ध्यान केवल तब ही जाएगा जब उसे उसकी जगह से, यानी गोद से हटा दिया जाए। ऐसी स्थितियों की उसकी सुस्पष्ट अपेक्षा और यह तथ्य कि कोई दूसरे अनुभव नहीं बल्कि ऐसे ही अनुभव उसकी प्रजाति के सातत्य को जारी रखते हैं। वह स्वयं को सही महसूस करता है, अतः उसे रोकर संकेत देने की या भूख लगने पर स्तनपान करने और उस का सुख-संतोष का आनंद पाने और साथ ही मल-मूत्र त्यागने का सुख-संतोष पाने के अलावा कुछ दूसरा करने की ज़रूरत नहीं पड़ती

अन्यथा वह बस होने को अनुभव करता है, उसी को सीखता है।

गोद या बाहों में उठाए जाने के चरण में, अर्थात् जन्मने के बाद स्वेच्छा से रेंग कर चलने का समय आने के पूर्व बालक केवल अनुभव पाता है और उनके माध्यम से अपनी सहज अपेक्षाओं की पूर्ति करता है। क्रमशः वह नई अपेक्षाओं या इच्छाओं की ओर बढ़ता है और उनकी भी पूर्ति करता है। जगे हुए भी वह कम से कम हिलता-डुलता है और अमूमन पूरी तरह तनावमुक्त तथा निष्क्रिय अवस्था में रहता है। उसकी माँसपेशियों में तान होता है, वह सोते समय चीथड़ों से बनी गुड़िया-सी जिस अवस्था में होता है वैसी उसकी स्थिति नहीं होती। पर वह सिर्फ उतनी ही न्यूनतम हलचल करता है, जितनी जरूरत उसे अपने इर्दगिर्द हो रही स्वयं से सरोकार रखने वाली गतिविधियों पर गौर करने के लिए लगे। अर्थात् भोजन करने के लिए और मल-मूत्र त्यागने के लिए। उसके लिए एक अन्य काम भी होता है, हालाँकि प्रसव के तत्काल बाद नहीं। यह काम है अपने सिर और शरीर को संतुलित करना (ताकि वह ध्यान दे सके, खा सके, और मल-मूत्र त्याग सके)। यह संतुलन उसे विविध भंगिमाओं में लाना पड़ता है, जो उसको उठाने वाले व्यक्ति के कामों और स्थितियों पर निर्भर करता है।

संभव है कि वह किसी की गोद में लेटा हो और हाथों या बाजुओं से उसका संपर्क केवल तब होता हो जब वे हाथ उसके शरीर से कुछ ऊँचाई पर कुछ कर रहे हों। जैसे नाव को खेना, सिलाई करना या खाना पकाना। तब अचानक उसे गोद बाहर की ओर झुकाती महसूस हो सकती है और कोई हाथ उसकी कलाई थामते-सी। फिर गोद गायब हो जा सकती है और हाथ अपनी जकड़ में कस उसे हवा में ऊपर उठा धड़ से संपर्क में ला सकते हैं। तब हाथ उसे छोड़ देते हैं और कोहनी की मदद से उसे कूल्हे या पिंजर से सटा लेते हैं तब नीचे झुक खाली हाथ से उठाकर फिर से सीधा करते हैं। उसे थामे हुए चलना, तब दौड़ना, और तब फिर से चलना शुरू कर सकते हैं। इस स्थिति में वह भिन्न-भिन्न लय में ऊपर-नीचे उछाला जाता है, उसे तरह-तरह के झटके लगते हैं। संभव है कि उसे किसी दूसरे को थमा दिया जाए और वह एक नए तापमान, बनावट, गंध और ध्वनि के संपर्क में आ जाए। यह नया व्यक्ति अधिक हड़ियल हो सकता है, या उसकी आवाज़ एक बच्चे-सी लग सकती है, या उसकी किसी पुरुष की गूँजदार आवाज़ भी हो सकती है। यह भी हो सकता है कि उसे कोई एक हाथ उठा अचानक कर ठण्डे पानी में

डाले, उस पर पानी उलीचे, उसे सहलाए और रगड़ कर तब तक पानी हटाए जब तक पानी टपकना बंद न हो जाए। संभव है तब उसे उसी नम अवस्था में वापस अधगीले कूल्हे पर रख दिया जाए। ऐसे में उसके शरीर का जो हिस्सा संपर्क में हो वहाँ गर्मी और जो हिस्सा हवा में हो वह ठण्डा लगने लगे। संभव है कि तब उसे सूरज की गर्मी महसूस हो या हवा में अतिरिक्त ठण्डक। अगर उसे जंगल के किसी पथ से ले जाया जाए तो धूप-छाँव से गुज़रने पर उसे सर्दी और गरमी दोनों ही महसूस हों। संभव है कि वह पूरी तरह सूख जाए और तब झमाझम बरसते पानी में वह फिर से तरबतर भी हो जाए और कुछ देर बाद वह ठण्डक और गीलेपन के बदले स्वयं को किसी छत के नीचे और आग के निकट पाए। ऐसी आग जो उसे किसी शरीर की ऊष्मा से कहीं अधिक तेज़ी से सुखा दे।

वह सो रहा हो और तब कोई उत्सव या दावत हो रही हो तो वह अपनी माँ द्वारा संगीत की लय पर उछल-कूद या पद-संचालन से ज़ोर से उछाला जाएगा। दिन में सोते समय भी ऐसे ही अनुभव उसे होते हैं। रात को उसके पास उसकी माँ सोती है, उसकी चमड़ी हमेशा की तरह शिशु से चिपकी होती है। माँ साँस लेती है, कभी-कभार हिलती है और यदा-कदा खर्राटे भी भरती है। वह रात को कई बार जगती है ताकि आग की देखाभाल कर सके। वह उसे सटाए-सटाए ही हैमक (रस्सियों से बना सोने का झूला) से उतरती है और फर्श पर ऊंकडू बैठती है। शिशु का शरीर तब माँ की जाँघ और शरीर के नीचे दबा होता है और वह लकड़ियों को आग में व्यवस्थित करती है। अगर शिशु भूख के कारण जागे और उसे स्तन न मिले तो शिशु संकेत देता है, तो माँ उसे स्तन देती है और उसके मन में कुशलक्षेम का भाव लौट आता है। ऐसे में उसके सातत्य के भाव पर कोई भारी तनाव नहीं पड़ता। उसका जीवन सक्रियता से भरपूर होता है, उसी जीवन के अनुरूप हो जो उसके लाखों-करोड़ों पूर्वजों ने जिया था, और यों वह अपनी स्वाभाविक प्रकृति की अपेक्षाओं की पूर्ति करता है।

वह इस चरण में स्वयं तो बहुत कम करता है, पर एक व्यस्त व्यक्ति की गोद और हाथों में रहने के दौरान वह बड़ी मात्रा में विविध अनुभवों से गुज़रता है। जब उसकी इस चरण की आवश्यकताएँ संतोषजनक रूप से पूरी हो जाती हैं तो वे बदल जाती हैं। जब शिशु मानसिक रूप से विकसित हो, अन्य ज़रूरतों के लिए तैयार हो जाता है तो वह अपनी अंतर्जात (सहज) उत्प्रेरणों के अनुरूप संकेत देता है और उसकी देखाभाल करने

वाले भी अपने आंतरिक सहज तंत्र द्वारा उनका सही अर्थ समझ लेते हैं। जब वह हँसता-खिलखिलाता है तो लोग खुश होते हैं, वे भी इन आनंददायी ध्वनियों को उकसाने के लिए प्रयत्न करते हैं। जल्दी ही वे उत्प्रेरण पहचान लिए जाते हैं और शिशु की प्रतिक्रिया द्वारा प्रोत्साहित हो, बारंबार दोहराए जाते हैं। बाद में जब शिशु में आनंद और उत्तेजना का स्तर कम हो जाता है, शिशु के संकेत और प्रतिक्रियाएँ उनके आचरण को उस दिशा में बदल देते हैं जो आनंद को ऊँचे स्तर पर कायम रख सकें।

पास आने और तब दूर हो जाने के खेल इसका उदाहरण हैं। इनकी शुरुआत शिशु के चेहरे या शरीर पर स्नेह भरे चुम्बन से हो सकती है। चूमे जाने पर शिशु मुस्कुराता और खिलखिलाता है तो एक और चुम्बन दिया जाता है। शिशु की ओर से खुशी और प्रोत्साहन का संकेत पुनः मिलता है। उसकी आनंद भरी चीखें और आँखों की चमक शांति और चुप्पी का संकेत नहीं देती, न पुचकारने का, न भूखे होने का, न उसकी स्थिति बदल देने का। सहजबोध से ही उसकी माँ अपनी नाक शिशु की छाती पर रगड़ती है और जब यह कृत्य सफल होता है, वह तमाम अन्य आनंददायक संकेत रचती है और शिशु के शरीर को होठों से स्पर्श करते समय ब-ब-ब-ब की ध्वनियाँ भी निकालती है।

आनंद देने वाले मुँह को पास आता देख शिशु अपनी प्रतिक्रिया का अनुमान लगा, खिलखिलाने और उत्तेजना से चीखने लगता है। वह मुँह जिस पुरुष, स्त्री या बच्चे का हो, उसे पता चल जाता है कि छेड़छाड़ से शिशु की मधुर ध्वनियाँ बढ़ाई जा सकती हैं। सो वह उसमें उतना विलम्ब करता है जब तक प्रभाव कायम रखा जा सके। पर इतनी भी देर नहीं करता कि शिशु का ध्यान टूटे, और इतनी जल्दी भी नहीं कि अपेक्षित प्रतिक्रिया का समय ही न मिले।

खेल के अगले चरण में शिशु को हाथ भर की दूरी पर रखा जाता है और तब उसे स्वयं से चिपटाया या एक सुरक्षित स्थिति में शरीर के साथ सटाया जाता है। हाशिए की स्थिति और सुरक्षित स्थिति में अंतर, बाहर दूर ले जाए जाना और तब सुरक्षित वापस लौटना, सुरक्षित स्थिति से दूर हो पाने की अपनी क्षमता को जाँच सफलतापूर्वक वापस आँट आना, घटनाओं की प्रगति की, मनोवैज्ञानिक परिपक्वता की शुरुआत होती है। जो शिशु को हाथों में उठाने के चरण से बढ़ा कर आगामी साहसिक अनुभवों की दिशा में पूरी कुशलता तथा उत्साह के साथ बढ़ाती है।

जैसे-जैसे हाथ भर की दूरी की स्थिति जाँच ली जाती है, उस पर स्वामित्व पा लिया जाता है, तब वह चरण आता है जब उसे ऊपर उठा पकड़ ढीली कर दी जाती है। जब शिशु यह संकेत देता है कि वह कुछ और खतरनाक खेल के लिए तैयार है तो उसे ऊपर उछाला और फिर से थाम लिया जाता है। जैसे-जैसे शिशु का आत्मविश्वास बढ़ता है उसे अधिक ऊपर तक उछाल काफी नीचे तक गिरने दिया जाता है। जैसे-जैसे भय की सरहदें विस्तृत होती हैं उसका आत्मविश्वास भी विस्तृत होता जाता है।

अन्य इन्द्रियों के संदर्भ में इन्हीं गुणों की परीक्षा करने वाले खेल भी शिशु अपने साथियों से सीखते हैं। माँ या अन्य परिचित व्यक्ति का आश्वासन देने वाला चेहरा “झाई, माँई”, (पीक-अ-बू) के खेल में पहले गायब होता है और तब फिर से नज़र आने लगता है। क्रमशः शिशु के कान के पास अचानक और तेज़ आवाज़ उछाली जाती है। उदाहरण के लिए “बू!” और तब शिशु को आश्वासन भी मिलता है कि यह तो माँ या कोई परिचित ही है और उसे घबराने की कोई ज़रूरत नहीं है। जैक-इन-द-बॉक्स (अचानक उछल कर दिखने वाला) जैसे खिलौने बाहरी दुनिया की चौंकाने वाले उत्प्रेरणों को दूर करते हैं और बढ़ती स्थिरता को जाँचते हैं। इसी प्रकार के अन्य खेल भी होते हैं, जिनमें पहल वयस्कों द्वारा की जाती है। येक्वुआना इस प्रकार के प्रदर्शनों के प्रति शिशु के रूझान का फायदा उठाते हैं। वे नियमों का पालन करते हुए, शिशु के संकेतों का सम्मान करते हुए, उसे अधिकाधिक चुनौती भरे पानी में डुबकियाँ लगवाते हैं। जनम के बाद से ही दैनिक स्नान तो करवाया ही जाता है, पर प्रत्येक शिशु को तेज़ बहाव वाली नदियों में भी डुबकी लगवाई जाती है। पहले सिर्फ उसके तलवे, तब पैर और अंततः पूरा शरीर। जल धार तेज़ से और तेज़ होती है जो आगे चल, तेज़ प्रवाह और प्रपात में बदलती है। जैसे-जैसे शिशु की प्रतिक्रिया उसके बढ़ते आत्मविश्वास का संकेत देती है पानी में डुबकी का समय भी बढ़ाया जाता है। येक्वुआना शिशु चलने या सोचने से भी पहले, नज़र डालते ही पानी के बहाव की तीव्रता, दिशा, और गहराई को भांपने में माहिर बन जाता है। उसके कबीले के लोग विश्व के श्रेष्ठतम श्वेत-जल नौका चालक होते हैं।

इन्द्रियों को अभ्यास देने और उनके कार्यों को अधिक परिष्कृत करने के लिए ढेरों और विविध प्रकार की घटनाओं तथा वस्तुओं को उपलब्ध करवाया जाता है, ताकि वे

मस्तिष्क तक भेजे जाने वाले संदेशों को समन्वित कर सकें।

शिशु के पहले अनुभव मुख्यतः एक व्यस्त माता के शरीर के अनुभव होते हैं। माँ का हिलना-डुलना ही भविष्य में एक सक्रिय जीवन का आधार उपलब्ध करवाता है। उसकी गति जीवित जगत की खासियत बन जाती है, जो हमेशा स्व को सुकून देने वाले सहीपन से जुड़ जाती है। इसलिए क्योंकि यह गोदी में उठाए जाने वाले चरण में सीखी जाती है।

अगर शिशु ज्यादातर समय ऐसे व्यक्ति की गोद में रहता है जो चुपचाप बैठा रहे, तो जीवन तथा कर्म की गुणवत्ता सीखने में उसे मदद नहीं मिलती। हालाँकि ऐसे में भी परित्यक्त होने की, दूर होने की, और अभाव की पीड़ा जैसी नकारात्मक भावनाएँ शिशु से दूर रहती हैं। यह तथ्य कि शिशु लोगों को उसे उत्तेजित करने को सक्रिय रूप से प्रोत्साहित करते हैं, यह संकेत देता है कि वे इसकी उम्मीद रखते हैं और उन्हें विकसित होने के लिए इसकी ज़रूरत होती है। जो माँ चुपचाप बैठी रहे वह अपने शिशु को यह सोचने के लिए अनुकूलित करेगी कि जीवन उबाऊ और सुस्त है। यह स्थिति शिशु में एक छटपटाहट जगाएगी और वह अक्सर अधिक उत्प्रेरण की माँग भी करेगा। वह ऊपर-नीचे उछल कर जताएगा कि उसे क्या चाहिए। या वह अपने हाथ लहरा कर माँ के कामों में गति लाने की चेष्टा करेगा। इसी प्रकार अगर माँ उसके साथ होते हुए भी ऐसा कोई बरताव करे मानो शिशु बेहद नाजुक हो, तो वह उसे यह सुझाव भी देगी। परन्तु अगर वह सख्त और लापरवाह बरताव करेगी तो शिशु स्वयं को ताकतवर स्थितियों से समझौता करने वाला और विविध परिस्थितियों में भी स्वयं को सहज महसूस करेगा। स्वयं को नाजुक महसूस करना न केवल अप्रिय है बल्कि वह विकसित हो रहे बालक की कुशलता में, और बाद में एक वयस्क के रूप में उसकी कार्य-कुशलता में भी बाधा पहुँचाएगा।

दृश्य, ध्वनियाँ, गंध, स्पर्श और स्वाद पर प्रारंभ में आश्रयदाता का शरीर हावी रहता है। बाद में जब ये आन्तरिक शक्तियाँ बढ़ती हैं तो साथ ही घटनाओं और वस्तुओं का दायरा भी बढ़ता है। सह-संबंध स्थापित होते हैं। झोंपड़ी का अंधकार तब हमेशा मौजूद रहता है जब खाना पकने की गंध आती हो और लकड़ी की आग की गंध तो लगभग हमेशा बनी रहती है। नहाते समय, पैदल यात्रा के दौरान उछाले जाते समय, प्रकाश तेज़ रहता है। अमूमन अंधकार में तापमान अधिक आरामदेह होता है बनिस्बत



बाहर के प्रकाश में, जो या तो तपिश भरी गर्मी का होता है या हवा और बरसात से ठिठुराने वाला। पर इनमें से कोई भी या सभी बदलाव स्वीकार्य होते हैं, इनमें आने वाले अंतर अपेक्षित होते हैं। इसलिए, क्योंकि शिशु के अनुभवों में विविधता रही थी। किसी की बाहों में होने की मूल शर्त की आपूर्ति हुई होती है, सो शिशु तमाम अनुभवों से उत्प्रेरित तथा समृद्ध होने को मुक्त होता है। ऐसी घटनाएँ जो किसी वयस्क को डरा दें जो इसके लिए तैयार न था, उन पर गोद के शिशु का ध्यान तक नहीं जाता। उसकी आँखों के सामने अचानक आकृतियाँ आ जाती हैं, वृक्षों के शिखर उसके सिर के ऊपर नाचते हैं। चीजें अचानक अंधेरे से प्रकाश में आ जाती हैं। तूफान और बिजली का कड़कड़ाना, कुत्तों का भौंकना, जल-प्रपातों का बहरा करने वाला शोर, चिरते पेड़, लपलपाती आग, अचानक भीगा जाने वाली बरसात या नदी का पानी, उसे परेशान नहीं करते। जिन परिस्थितियों में उसकी प्रजाति क्रमशः विकसित हुई है, उसमें मौन या लम्बे समय तक ऐन्द्रिक उत्प्रेरण का न बदलना ही उसे चौंकाएगा।

जब वयस्कों का समूह बातचीत में मशगूल हो तब अगर बच्चा किसी कारण से रो पड़े, तो उसकी माँ उसे चुपाने के लिए कान के पास कोमल ध्वनि करती है ताकि उसका ध्यान बंट जाए। अगर वह तब भी रोना बंद नहीं करता तो वह उसे तब तक कहीं और ले जाती है जब तक वह चुप न हो जाए। वह शिशु के विरुद्ध अपनी इच्छाशक्ति को खड़ा नहीं करती, बल्कि उसके आचरण पर बिना कोई फैसला सुनाए, या असुविधा होने की नाराज़गी जताए, वह स्वयं को उसके साथ वहाँ से अलग कर लेती है। जब वह उस पर लार टपकाता है, वह इस पर बिरले ही ध्यान देती है। जब वह अपनी हथेली से उसका मुँह पोंछती है, तो यह भी माँ उसी बेध्यानी से करती है जैसे वह स्वयं को साफ करती है। जब वह गीला हो जाता है, या मल त्यागता है तो वह हँस सकती है और क्योंकि वह बिरले ही अकेले होती है, उसके साथ वाले भी हँसते हैं। वह जल्दी से शिशु को खुद से कुछ दूर करती है ताकि वह अपना काम पूरा कर ले। यह भी एक प्रकार का खेल होता है कि वह शिशु को कितनी जल्दी दूर कर पाती है, पर हँसी तब अधिक ठहाकेदार होती है, जब माँ इस खेल में हारे। उसकी पेशाब को जल्दी ही माटी की फर्श द्वारा सोख लिया जाता है, और शिशु का पाखाना तुरंत पत्तों से साफ कर दिया जाता है। उल्टी करना या “थूक या लार निकालना” जो हमारे शिशुओं के जीवन की रोज़मर्रा की घटना है, इतना

बिरले होता है कि मुझे इण्डियनों के साथ बिताए इतने वर्षों में केवल एक बार ही यह देखने को मिला था। उस शिशु को तेज़ बुखार था।

यह धारणा कि प्रकृति ने एक प्रजाति को कुछ इस प्रकार विकसित किया है कि वह अपनी माँ का दूध पीते ही हर बार अपच से पीड़ित हो जाए, को सुसभ्य विशेषज्ञों ने कभी चुनौती नहीं दी है। “डकार दिलाना” बच्चे को अपने कंधे से सटा थपकियाँ लगाने का सुझाव दिया जाता है ताकि “उसने जो हवा निगल ली हो वह निकल जाए।” इस प्रक्रिया में शिशु अक्सर कंधे पर ही उल्टी कर देता है। हमारे शिशु अक्सर तनावग्रस्त रहते हैं, फिर अचरज क्या कि वे बीमार भी रहते हैं। तनाव, लातें चलाना, पीठ को तानना, शरीर अकड़ाना और ज़ोर-ज़ोर से चीखना आदि इसी सतत् और गहन बेचैनी का संकेत होते हैं। येक्वुआना शिशुओं को कभी दूध पीने के बाद इस खास बरताव की ज़रूरत नहीं पड़ती। ना ही किसी भी अन्य पशु के शावकों को। इसका आंशिक स्पष्टीकरण संभवतः यह है कि उन्हें दिन और रात को कई-कई बार स्तनपान करने दिया जाता है, जिसकी हमारे सभ्य शिशुओं को अनुमति नहीं होती। हालाँकि संभावना यह ही अधिक है कि इसका उत्तर हमारी स्थाई रूप से तनावग्रस्त स्थिति में हैं। इसलिए क्योंकि जब येक्वुआना शिशुओं की देखभाल दिन में बच्चे करते हैं, और इसलिए वे जब मन करे माँ के पास नहीं पहुँच पाते तब भी वे पेट दर्द (कोलिक) का कोई संकेत नहीं देते।

बाद में जब गृह प्रशिक्षण होता है, तो नन्हे को झोंपड़ी का फर्श गंदा करने पर बाहर भगा दिया जाता है। इस समय तक वह सही और “अच्छा” महसूस करने और दूसरों द्वारा “अच्छा” माना जाने का इतना आदी हो चुका होता है कि उसके सामाजिक मनोवेग विकसित होते समय, अपने कबीले के सदस्यों के सामंजस्य में होते हैं। ऐसे में जब उसके किसी कृत्य को नापसंद किया जाता है तो उसे यह नहीं लगता कि उसकी स्वयं की निंदा की गई है। वह समझ लेता है कि यह निंदा उसके काम की है। उसे तब सहयोग करने की प्रेरणा मिलती है। उसमें कबीले वालों के समक्ष स्वयं की रक्षा करने का भाव नहीं जागता, या वह उनके नज़रिए से भिन्न नज़रिया नहीं अपनाता। क्योंकि वे ही उसके परीक्षित और सच्चे साथी होते हैं।

तो यही, हालाँकि यह कहना एक भयावह विडंबना है, सामाजिक पशु होने का

सच्चा अर्थ है।

यह हमें समसायिक पाश्चात्य संस्कृतियों के सातत्यहीन शिशुओं के अनुभवों तक लाता है।

जीव वही है, हालाँकि हमारा हालिया इतिहास हमारे क्रमविकास के इतिहास के लाखों-करोड़ों प्रारंभिक वर्षों से बहुत भिन्न है, जिसने मानव पशु का उत्पादन किया और जो येक्वुआना तथा हमारे लिए साझा था। सातत्य से कुछ ही हजार वर्षों का विचलन जो हमें सभ्यता की दिशा में बढ़ा ले गया, उसका क्रमविकास के कालक्रम में खास महत्व नहीं है। न ही इस अल्प काल में कोई खास क्रमविकास हुआ होगा। सो जो शिशु सीधे निरंतरता से जुड़े हुए आते हैं, और जिनके ऐसे कोई पूर्वज नहीं हैं जो वंचित किए गए हों, और जिन शिशुओं का प्रसव ही अर्धशहरी इलाके में रहने वाले प्रसूति विशेषज्ञ के गॉल्फ खेलने के समय के चलते जबरन करवाए जाते हैं, की अपेक्षाएँ एक समान ही होती हैं।

जैसा हम देख ही चुके हैं जहाँ तक प्रसव का मसला है मानव प्रजाति के शिशु, अन्य प्रजातियों के शिशुओं से कमतर नहीं होते। जन्म लेने का अनुभव हमारी अनुकूलनीयता की सूची का ही हिस्सा है। इसलिए क्योंकि हमारा विकास पूर्वजों के अनुभवों के अनुरूप हुआ है, जो भी ठीक हमारी ही तरह जन्मे थे — ठीक उस समय से जब से स्तनपायी जीव प्रकट हुए थे। और उसके भी पहले अपनी अनुकूलनीयता के कारण अण्डों से फूट कर बाहर आए थे। अनपेक्षित घटनाएँ वे हैं जो प्रारंभिक पूर्ववर्तिता का अनुसरण करती हैं। अनपेक्षित घटनाओं के लिए कोई विकसित स्थिरक तंत्र नहीं होता जो उन्हें आत्मसात करने में सहायक हो। खतरा यह भी होता है कि प्रसव के समय अनपेक्षित घटनाएँ न केवल उन अपेक्षित घटनाओं के साथ जुड़ जाएँ, जो बाद में किसी खास किस्म के विकास के लिए आवश्यक हों, बल्कि उनका स्थान स्वयं ले लें। प्रकृति में ऐसा बहुत कम होता है जो व्यर्थ जाए। किसी विकसित प्रणाली का सार है वह मितव्ययी संबंध जो विकास प्रक्रिया के प्रत्येक पक्ष के कार्य में, कार्य व कारण, दोनों ही रूप में काम करता है।

इसका अर्थ यह है कि अनुभव की किसी भी स्थापित पूर्ववर्ती बारीकी से वंचित होने पर व्यक्ति को अपने कुशलक्षेम से उसकी कुछ कीमत जरूर चुकानी पड़ती है।

संभवतः यह कीमत इतनी सूक्ष्म हो कि उस तक हमारा ध्यान ही न जाए। या फिर वह इतनी आसानी से खो जाती हो कि हम उसे एक अभाव के रूप में पहचान ही न पाते हों। शोध ने यह दर्शा दिया है, जैसा हम आगे देखेंगे, कि हाथों और घुटनों के सहारे रेंगने के अनुभव से वंचित होने का बाद में जब बोलने की क्षमता विकसित होती है, उस पर खराब असर पड़ता है। इसी तरह, यह भी संभव है कि अगर शिशु को बचपन में अलग-अलग भंगिमाओं में न उठाया जाए, या उस पर एक न्यूनतम बार बरसात न हो, या वह दिन से रात के बीच प्रकाश का स्वाभाविक अंतर न देखे, तो बाद में उसके कदम लड़खड़ा सकते हैं, या वह तापमान में आए बदलावों को सह नहीं सकता, या जहाज़ पर बैठते ही उल्टियाँ करने लग सकता है। आश्वस्त चाल के संबंध में कोई शोधकर्ता, मोहॉक शिशु के अनुभव में से किसी ऐसे पक्ष को पृथक कर सकता है, जो हमारे शिशुओं के अनुभव में नहीं घटता, जिसके कारण मोहॉक शिशुओं को चक्कर नहीं आते, उन्हें ऊचाइयों से डर नहीं लगता और भिन्न-भिन्न हद तक इसके शिकार नहीं होते हैं (येक्वुआना, सानेमा और संभवतः सभी दक्षिण अमरीकी इण्डियन आदिवासियों को भी चक्कर नहीं आते। परन्तु मोहॉक कबीले के लोगों को अब तक हमसे सीखे गए कई अनुभव भी हो चुके हैं, अतः उनमें जो अंतर हैं उन्हें छाँटकर इस विशेष पक्ष को तलाशना शायद अधिक आसान हो)।

सुसभ्य लोगों पर जन्म के सदमे की घटना लागू करने पर, सातत्य का सिद्धान्त यह सुझाता है कि इसमें योगदान करने वाले घटक शायद स्टील के बने उपकरण, तेज प्रकाश, रबर के दस्ताने, रोगाणुरोधी रसायन व बेहोशी की दवा, तेज आवाज़ें या मशीनों की ध्वनि आदि हो सकते हैं। बिना किसी सदमे को झेले प्रसव के समय शिशु के अनुभव केवल वे ही हो सकते हैं, जो उसके और उसकी माता की प्राचीन अपेक्षाओं के अनुरूप हों। कई अच्छी, अदूषित संस्कृतियाँ माओं को बिना किसी दूसरे की मदद से स्वयं अपना प्रसव पूरा करने देती हैं। जबकि कुछ अन्य उतनी ही अदूषित संस्कृतियों में प्रसव में सहायता का प्रावधान होता है। दोनों ही विधियों में गर्भ से निकलते ही शिशु अपनी माता के शरीर से निकट संपर्क में रहता है। जब शिशु स्वयं साँस लेने लगता है, और शांत भाव से अपनी माँ के शरीर पर लेटा आराम कर रहा होता है क्योंकि माँ उसे दुलरा-थपका कर शांत कर चुकी होती है, अब उसकी नाल धड़कना बंद कर चुकी होती है और

उसे काट दिया जाता है तब उस नन्हे जीव को बिना कोई देरी के — जो नहलाने, वजन करने, जाँचने, या कोई भी दूसरे काम के लिए नाम पर की जाए — फौरन स्तन दे दिया जाता है। ठीक इसी समय, प्रसव पूरा होने के तत्काल बाद, जब माँ और शिशु पहली बार दो भिन्न व्यक्तियों के रूप में मिलते हैं, उसी क्षण शिशु के मानस पर छाप लगने की महत्वपूर्ण घटना भी घटती होगी। यह सुविदित है कि कई नन्हे पशु जन्म के बाद अपनी माता द्वारा अंकित किए जाते हैं। शिशु हंस, अण्डे से निकलने के फौरन बाद जिस भी चलती वस्तु को देखते हैं उसी से प्रभावित हो जाते हैं। अमूमन तो उसे उसकी माँ ही होना चाहिए, परन्तु अगर वह कोई यांत्रिक खिलौना हो, या कौनरैड लॉरेंज ही हो, वे अपने विकसित स्वभाव के चलते उसके ही पीछे-पीछे जाते हैं। उनका जीवन माँ द्वारा इसी प्रकार अंकित होने पर निर्भर करता है। इसलिए, क्योंकि माता हंस के लिए अपने सभी चूजों के पीछे एक साथ चलना संभव ही नहीं है। और वे नवजात चूजे माँ के बिना अपनी सभी जरूरतों को पूरा नहीं कर सकते। अधिकांश अन्य प्रजातियों के विपरीत हमारी प्रजाति में आवश्यकता यह है कि माता शिशु पर अंकित हो जाए, क्योंकि मानव शिशु इतना असहाय होता है कि वह किसी के पीछे नहीं जा सकता। सच तो यह है कि अगर माँ उसकी अपेक्षाओं को पूरा न करे तो शिशु उससे संपर्क साधने के लिए संकेत देने के अलावा कुछ भी नहीं कर सकता।

इस अति महत्वपूर्ण अंकन का मनोवेग मानव माता में इस गहनता से बसा होता है कि वह उसकी अन्य सभी चिंताओं से ऊपर हावी हो जाता है। चाहे वह कितनी भी थकी क्यों न हो, कितनी भी भूखी या प्यासी क्यों न हो, या अपने सामान्य स्वार्थ से प्रेरित क्यों न हो, वह इस असुंदर, अनजाने शिशु को स्तनपान करवा, उसे आश्वासन देना चाहती है। अगर ऐसा न होता तो हम इन सैकड़ों-हजारों पीढ़ियों तक बचे न रहते। यह अंकन का कार्य प्रसव के समय हार्मोनों की कड़ी से जुड़ा होता है, और इसे तत्काल ही होना भी होता है, क्योंकि अन्यथा बहुत देरी हो सकती है। प्रागऐतिहासिक युग की एक माता नवजात शिशु के प्रति चंद्र मिनटों के लिए भी उदासीन न रह पाती होगी, अर्थात् वह सशक्त इच्छा बेहद तात्कालिक होती होगी। घटनाओं की निरंतरता में इसका प्रावधान एक अत्यावश्यक पूर्वशर्त है, ताकि सहजता से संवेदन और अनुक्रिया का वह सिलसिला प्रारंभ हो और माता और शिशु अपना साझा जीवन शुरू कर सकें।

अगर छाप छोड़ने की इस प्रक्रिया को होने से रोका जाए, अगर शिशु को उस समय माँ से दूर कर दिया जाए जब वह उसे दुलारने को, उसे अपने स्तन से लगाने, अपनी बाँहों और दिल में उतारने को प्रस्तुत हो, या माँ इस कदर दवाओं के असर में हो कि वह इस जुड़ाव को उसकी पूर्णता में महसूस ही न कर सके तो क्या होता है? ऐसा लगता है कि अपनी छाप छोड़ने का उत्प्रेरण जब शिशु से अपेक्षित मिलन की अनुक्रिया नहीं पाता है, तो वह शोक की स्थिति में तब्दील हो जाता है। मानव प्रसवों के प्रारंभिक युगों में, जब कभी माता में उमड़ती कोमलता को कोई पात्र नहीं मिलता था तो वो इसलिए कि शिशु मृत जन्मा था। सो माँ की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया शोक की होती थी। अर्थात् जब वह क्षण चूकता है, तो इस स्वाभाविक संवेदना को अनुक्रिया नहीं मिल पाती, और सातत्य की ताकतें यह धार लेती हैं कि कोई शिशु है ही नहीं, अतः छाप छोड़ने की इच्छा को रद्द करना ज़रूरी है।

ऐसे में जब आधुनिक अस्पताल माँ के मनोवैज्ञानिक शोक की स्थिति में चले जाने के कुछ घंटों या चंद मिनटों बाद भी अचानक शिशु को सामने लाते हैं तो नतीजा अक्सर यह होता है कि उसमें “मातृवत देखभाल” न कर पाने या “शिशु को प्रेम न कर पाने” को लेकर अपराधबोध पैदा हो जाता है। साथ ही वह सभ्यता की उस त्रासदी को भोगती है जिसे सामान्य प्रसवोत्तर अवसाद कहा जाता है... और वह भी तब, जब प्रकृति ने उसे पूरी तरह से उसके जीवन के गहनतम और सर्वाधिक प्रभावशाली भावनात्मक घटना के लिए तैयार कर रखा हो।

मानव शिशु के इस चरण में वह मादा भेड़िया जो भेड़ियों के सातत्य से जुड़ी हो, शिशु की जैविक माता की तुलना में अधिक सटीक माता सिद्ध होगी, जो एक फीट दूर रखे बिछौने पर लेटी हो। इसलिए क्योंकि वह भेड़िया माता स्पर्शानुभूतियुक्त तो होगी, जबकि वह मानव माता इतनी पास होते हुए भी मानो मंगल गृह-सी दूरी पर होती है।

पाश्चात्य सभ्यता के प्रसूति विभाग में भेड़ियों से सांत्वना पाने की संभावना नहीं होती। उस नवजात शिशु को जिसका चर्म उस प्राचीन स्पर्श की सहज ऊष्मा और जीवित शरीर के स्पर्श के लिए चीख रहा हो, एक सूखे, बेजान कपड़े में लपेट दिया जाता है। उसे एक डब्बे में रखा और छोड़ दिया जाता है, चाहे वह कितना भी रो क्यों न रहा हो, ऐसे कारागार में जो पूर्णतः गतिहीन हो (उसके शारीरिक अनुभव में पहली बार, कल्पों के

क्रमविकास के बाद, या गर्भ के अनंत सुख के बाद, पहली बार)। वह जो एकमात्र ध्वनियाँ सुनता है वे भी उसकी तरह अकथनीय कष्ट भोग रहे अन्य पीड़ितों की ही होती हैं। इन ध्वनियों का उसके लिए कोई अर्थ नहीं हो सकता। वह रोता-कलपता है। उसके फेंफड़ों पर, जिन्हें हवा का अभ्यास नहीं होता, उसके मन की पीड़ा का दबाव पड़ता है। पर कोई पास नहीं आता। फिर भी जीवन के सहीपन में विश्वास रखते हुए, जैसा शिशु को स्वाभाविक रूप से करना ही पड़ता है, वह वही काम करता है जो वह करना जानता है। यह है रोते जाना। अंततः एक कालहीन जीवनकाल के बाद, वह थक कर सो जाता है।

वह चुप्पी के भय में, गतिहीन स्थिरता में जागता है। वह चीखता है। वह सिर से पैर तक लालसा की आग में जलता है, वह असहनीय बेसब्री से कामना करता है। वह छटपटा कर साँस खींचता है और इतनी ज़ोर से चीखता है कि उसका दिमाग उसी ध्वनि से भर जाता है। वह तब तक चीखता है जब तक उसकी पसलियाँ दुखने न लगे, उसका कण्ठ छिल न जाए। वह और पीड़ा सह नहीं सकता, उसकी सुबकियाँ कमज़ोर पड़ समाप्त हो जाती हैं। वह सुनता है। वह अपनी मुट्ठियाँ खोलता और बांधता है। वह सिर दायें-बायें घुमाता है। पर किसी भी बात से मदद नहीं मिलती। सब कुछ असहनीय है। वह फिर से रोने लगता है, पर यह उसके थके कण्ठ के लिए भारी है, जल्दी ही वह चुप हो जाता है। कामना से त्रस्त अपने शरीर को वह अकड़ा लेता है। और राहत की छाया उसे महसूस होती है। वह अपने हाथ हिलाता है, लातें मारता है। तब वह रुकता है, वह पीड़ा झेलने में सक्षम है, सोच पाने में अक्षम, उम्मीद रख पाने में अक्षम। वह सुनता है और वह फिर से सो जाता है।

जब वह जगता है अपना पोतड़ा गीला कर देता है, और इस घटना से उसका ध्यान अपनी यातना से भटकता है। पर अपने शरीर के निचले भाग में गर्म, गीलेपन के बहने का अहसास जल्दी ही गायब हो जाता है। पल भर में वह ऊष्मा सर्द नमी में बदल जाती है। वह पैरों से लतियाता है, अपना शरीर अकड़ाता है और सुबकता है। चाहना से व्याकुल, जीवशून्य वातावरण में वह स्वयं को गीला और बेआराम पाता है। वह अपनी तकलीफ में रोता-चीखता है तब तक, जब तक अकेलेपन की नींद उसे चुप नहीं कर देती।

अचानक उसे उठाया जाता है। उसकी अपेक्षाएँ जो उसको मिलने वाला है उसे पाने

के लिए आगे उमड़ती हैं। उसका गीला पोतड़ा हटा दिया जाता है। राहत। उसके चर्म को जीवित हाथ छूते हैं, उसके पैर उठाए जाते हैं और उसकी कटि पर एक नया, बिल्कुल सूखा, बेजान कपड़ा लपेट दिया जाता है। पल भर में ही ऐसा लगने लगता है मानो हाथ कभी आए ही नहीं थे, न ही पोतड़ा गीला हुआ था। कोई चेतन समृति नहीं होती, न ही आशा की कोई किरण। वह असहनीय शून्यता में, समयहीन, गतिहीन, मौन इन्तज़ार में, कामना करते हुए पड़ा रहता है। उसका सातत्य, अपने संकटकालीन उपाय करता है, पर वे तो बरताव में छोटे समय के लिए हुई त्रुटियों को सुधारने के लिए, या राहत पाने के लिए किसी को पुकारने के लिए होते हैं। ये उपाय यह मानकर चलते हैं कि जो भी राहत देना चाहेगा वह हाज़िर हो जाएगा। परन्तु इस अति के लिए सातत्य के पास कोई समाधान नहीं होता। कुछ घंटों तक साँस लेने के बाद शिशु अपनी प्रकृति से इस कदर विमुख हो जाता है कि सातत्य की महान शक्तियों के लिए उसे उबारना असंभव हो जाता है। गर्भ में बिताया समय ही वह अंतिम अवधि थी जिसमें उसने बिना व्यवधान सतत् कुशलक्षेम को अनुभव किया था। जबकि उसकी अंतर्जात अपेक्षा यही थी कि वह उसी कुशलक्षेम की स्थिति में अपना समूचा जीवन बिताएगा। उसका स्वभाव इसी पूर्वधारणा पर आदेशित था कि उसकी माँ उससे उचित आचरण करेगी, और जो कुछ किया जाएगा उससे दोनों के पारस्परिक हित सधेंगे।

कोई आता है और शिशु को आनंद देता हुआ हवा में उठा लेता है। अब शिशु जीवन से जुड़ता है। उसे कुछ ज़्यादा ही सावधानी से स्वाद चखने के निकट ले जाया जाता है, पर वहाँ गति है। तब वह अपनी जगह पर आ जाता है। अब तक जो तकलीफ उसने भोगी थी वह गायब हो जाती है। उसे घेर लेने वाली बाहों में वह सुस्ताता है। हालाँकि उसका चर्म कपड़े के बीच से गुज़र राहत का कोई संदेश नहीं भेजता फिर भी उसके हाथ और उसका मुँह सब कुछ सामान्य होने का संकेत देते हैं। जीवन का सकारात्मक आनंद, जो सातत्य की सामान्य स्थिति होती है, लगभग संपूर्ण होता है। स्तन का स्वाद, उसका स्पर्श मौजूद है, कुनकुना दूध उसके आतुर मुँह में बहता है। वह धड़कन भी उपस्थित है जिसे गर्भावस्था और वर्तमान के बीच जुड़ाव का आश्वासन होना चाहिए, साथ ही उसकी धुंधली-सी दृष्टि को नज़र आने वाली गति भी है। कंठ स्वर की ध्वनि भी सही है। केवल कपड़ा और गंध (उसकी माँ इत्र का इस्तेमान करती है) हैं जो



किसी अभाव का संकेत देती हैं। वह दूध पीता है, और तब तृप्त और प्रसन्न हो जाता है, वह ऊँघने लगता है।

जब जगता है तो पुनः नर्क में होता है। कोई स्मृति, कोई आशा, कोई विचार उसकी माता के साथ होने का सुकून इस उजाड़ नरक में उसे शांति नहीं देता। घंटे गुजरते हैं, दिन और रातें भी। वह चीखता है, थकता है, सो जाता है। वह जगता है और अपना पोतड़ा गीला करता है। अब तो इस कृत्य में भी कोई आनंद नहीं होता। जैसे ही शिशु के अंदरूनी अंग राहत का सुख जगाते हैं, वैसे ही उस राहत का स्थान गर्म, अम्लीय पेशाब उसके छिल चुके शरीर में दर्द का अहसास जगाता है।

वह तब तक चीखता है। उसके थके फेंफड़ों को उस जलन को दबाने के लिए चीखना ही पड़ता है। वह चीखता जाता है जब तक पीड़ा और चीख-पुकार उसके निढाल हो सो जाने के पहले उसकी समस्त ऊर्जा को चुका नहीं देती।

उसके अस्पताल में, व्यस्त नर्स सभी पोतड़ों को निश्चित समय सारिणी से बदलती हैं जो असामान्य नहीं है। फिर चाहे वे सूखे हों, गीले हो या एक अर्से से गीले रहे हों। और वे शिशुओं को उसी छिली, हरे घाव की स्थिति में घर भेजती हैं, ताकि उन्हें वह व्यक्ति ठीक कर सके जिसके पास ऐसे कामों के लिए फुर्सत हो।

जब तक उसे अपनी माँ के घर (तय है कि इसे उसका घर तो कहा नहीं जा सकता) ले जाया जाता है, वह जीवन के चरित्र से बखूबी वाकिफ हो चुका होता है। चेतनापूर्व स्तर पर यही समझ उसकी बाद की छवियों को मर्यादित करेगी। वह जान चुका होता है कि जीवन अवर्णनीय रूप से एकाकी है, उसके संकेतों को उचित अनुक्रिया इसमें नहीं मिल पाएगी और वह पीड़ा ग्रस्त रहेगा।

पर उसने हिम्मत नहीं हारी होती। उसकी जीवन शक्तियाँ संतुलन वापस लाने की लगातार चेष्टा करेंगी। तब तक, जब तक उसमें जीवन मौजूद रहे।

घर और अस्पताल के प्रसव विभाग में मूलतः कोई अंतर नहीं किया जा सकता, सिवाय छिलन के अहसास के। शिशु के जागृत घंटे अब भी ललक, अभाव और मौन शून्य के स्थान पर सहीपन के आने का इंतजार करते हैं। प्रतिदिन कुछ मिनटों के लिए उसकी ललक में विराम आता है, और स्पर्श की, थामे जाने की, हिलाए-डुलाए जाने की तीव्र कामना को राहत मिलती है। उसकी माँ काफी सोच-विचार के बाद उसे स्तन

तक पहुँचने देने का निर्णय ले चुकी है। वह उसे ऐसी कोमलता से प्यार करती है, जिसका अहसास उसने पहले कभी किया ही नहीं था। प्रारंभ में उसके लिए दूध पिलाने के बाद शिशु को नीचे रखना तक कठिन होता है। खासकर इसलिए क्योंकि जब भी वह ऐसा करती है, शिशु रोता है। पर उसको विश्वास है, इसलिए क्योंकि उसकी माँ ने उसे बताया है (और बेशक माँ तो जानती ही होगी) कि अगर वह इस समय शिशु के सामने झुकेगी तो वह बिगड़ जाएगा, और बाद में परेशानी का सबब बनेगा। वह सब कुछ सही तरीके से करना चाहती है। उसे क्षण भर के लिए यह भी लगता है कि उस नन्हे जीव को बाहों में उठाए रखना इस जगत में किसी भी दूसरी चीज़ से अधिक महत्वपूर्ण है।

वह उसाँस छोड़ती है और कोमलता से शिशु को उसके पालने में रखती है। पालना, पाण्डा व पीली बतखों के चूज़ों से सजा है और कमरे से मेल खाता है। माँ ने बड़ी मेहनत से रोएँदार पर्दे लगाए हैं; एक विशाल पाण्डा के आकार का कालीन फर्श पर है, सफेद अलमारी, नहलाने का टब, पोतड़ा बदलने की मेज़, पाउडर, तेल, शैम्पू और बाल झाड़ने के ब्रश से सजा प्रसाधन टेबल है। सभी वस्तुएँ खासतौर से शिशुओं के लायक रंगों में बनाई गई हैं। दीवारों पर इन्सानों के कपड़ों में सजे पशु शिशुओं के चित्र हैं। अलमारी की दराज़ों में छोटे-छोटे कच्चे-बनियान, सोने के कपड़े, जूतियाँ, टोपियाँ, दस्ताने और पोतड़े अटे पड़े हैं। अलमारी के ऊपर एक रोएँदार मेमना मोहक भंगिमा में रखा है और फूलों से भरा गुलदान है, जिन्हें उनकी जड़ों से काट दिया गया है, क्योंकि उसकी माँ को फूलों से भी “प्यार” है।

माँ शिशु की बनियान खींचकर सीधी करती है, उसे एक कढ़ी हुई चादर और उसके नामाक्षरों वाले कम्बल से ढकती है। वह इन चीज़ों पर संतोष भरी दृष्टि डालती है। शिशु के कमरे को सुंदर बनाने में कोई कमी नहीं रखी गई है, हालाँकि वह और उसका पति शेष कमरों के लिए वह साज़ो-सामान खरीद नहीं सकते, जिसकी योजना वे सालों से बनाते रहे हैं। वह बच्चे के मखमली गाल को चूमने के लिए झुकती है और फिर दरवाज़े की ओर बढ़ती है कि *पहली यातना भरी चीख शिशु के शरीर को झकझोरती है।*

वह हौले से दरवाज़ा बन्द करती है। उसने शिशु से युद्ध की घोषणा कर दी है। उसकी इच्छा शिशु की इच्छा पर हावी होनी ही चाहिए। दरवाजे के पार से वह ऐसी ध्वनियाँ सुनती है मानो किसी को यातना दी जा रही हो। उसका सातत्य उस ध्वनि को

ठीक इसी रूप में पहचानता है। प्रकृति तब तक किसी के यंत्रणा पाने की ध्वनियाँ नहीं निकालती, जब तक ठीक यही हो न रहा हो। स्थिति *वास्तव* में ठीक उतनी ही गंभीर है जितनी वह आवाज़ों से लग रही हो।

वह ठिठकती है, उसका दिल उसे शिशु की ओर खींचता है पर वह अपनी भावना पर लगाम लगाती है, और अपने रास्ते पर बढ़ जाती है। शिशु का पोतड़ा अभी-अभी बदल दिया गया है, उसे दूध पिलाया जा चुका है। उसे पक्के तौर पर लगता है कि शिशु को किसी चीज़ की दरअसल ज़रूरत नहीं है। सो वह उसे तब तक रोने देती जब तक वह थक न जाए।

शिशु जगता है और पुनः रोता है। माँ दरवाज़े से झाँकती है, यह देखने को कि वह अपनी जगह पर तो है। तब धीमे से ताकि उसमें कोई गलत उम्मीद न जगे वह फिर से दरवाज़ा बंद कर देती है। वह तेज़ी से रसोई की ओर, जहाँ वह काम कर रही थी, लौट जाती है। वह इस दरवाज़े को खुला छोड़ती है, ताकि अगर शिशु को कुछ हो, तो वह सुन सके।

शिशु की चीखें धीरे-धीरे थर्राती सुबकीयों में तब्दील हो जाती है। क्योंकि रोने के संकेत को कोई प्रतिक्रिया नहीं मिलती, संकेत अपेक्षित राहत पाने के बदले भ्रम के उजाड़ शून्य में खो जाता है। शिशु इधर-उधर ताकता है। उसके पालने के सींखचों के परे दीवार है। प्रकाश मध्यम है। वह दूर की दुनिया की निरर्थक ध्वनियाँ सुनता है। उसको खुदके पास कोई आवाज़ नहीं सुनाई देती। वह दीवार को तब तक घूरता है जब तक उसकी आँखें मुंद नहीं जाती। जब वे पुनः खुलती हैं उसे ठीक पहले की ही तरह पालने के सींखचे और दीवार दिखाई देते हैं, बस प्रकाश अब हल्का पड़ गया होता है।

अनंत युगों के बीच, सींखचों और दीवार को घूरने के दौरान, अन्य हस्तियाँ सींखचों के दोनों ओर तथा सुदूर छत पर काबिज़ हो जाती हैं। दूर, एक ओर गतिशून्य आकृतियाँ हमेशा बनी रहती हैं।

कई बार कुछ हलचल होती है, और कोई वस्तु उसके कान ढक देती है, ढेरों कपड़े उस पर लद जाते हैं। ऐसे समय वह शिशु गाड़ी के अंदरूनी कोने का सफेद प्लास्टिक देख पाता है, और कभी जब उसका मुँह ऊपर को होता है, वह आकाश देखता है। या फिर बच्चा गाड़ी की छत, और यदा-कदा दूरी पर खड़े भवन, जो उसकी नज़रों से

सरकते जाते हैं। दूर पेड़ों के शिखर भी होते हैं, जिनका उससे कोई लेन-देन नहीं होता। कभी कुछ लोग उसको झुक कर देखते हैं, अमूमन एक-दूसरे से बतियाते हैं, पर कभी-कभार उससे भी।

अक्सर लोग उसके सामने झुनझुना बजाते हैं, और क्योंकि यह उसके पास होता है उसे लगता है कि वह जीवन के करीब है। वह अपने स्थान पर खुद को पाने की आशा में हाथ मारता है। जब झुनझुना उसके हाथों के पास लाया जाता है वह उसे पकड़ लेता है। उसे मुँह में लेता है। पर यह तो गलत है। वह फिर से हाथ चलाता है और झुनझुना दूर गिर जाता है। कोई उसे उठा फिर उसके पास लाता है। वह सीख लेता है कि किसी चीज़ को फेंकने से कोई व्यक्ति पास आता है। शिशु संभावना से युक्त आकृति को पास बुलाना चाहता है, सो वह झुनझुने या हाथ में पकड़ाई गई किसी भी चीज़ को फिर फेंकता है। यह चाल कारगर होती है। जब चीज़ें उसे लौटाई नहीं जातीं, तो फिर से खाली आकाश या बच्चागाड़ी की छत ही होती है।

जब वह बच्चागाड़ी में रोता है, तो उसे पुरस्कार में जीवन के संकेत मिलते हैं। उसकी माँ गाड़ी को आगे-पीछे सरकाती है, क्योंकि उसने सीख लिया है कि इससे शिशु चुप हो जाता है। गति और अनुभव की तीव्र कामना, जो उसके पूर्ववर्तियों ने प्रारंभिक महीनों में पाई थी, इस हिलडुल से कुछ शांत होती है। उसे कुछ अनुभव देती है। उसके आसपास हो रही ध्वनियों का उसके साथ जो हो रहा है से कोई संबंध नहीं होता, अतः उसकी अपेक्षाओं की पूर्ति के संदर्भ में वे मूल्यहीन ही होती हैं। फिर भी वे उसके अपने कक्ष के मौन से कुछ अधिक देती हैं। उसके सातत्य के अनुभव का भागफल शून्य के निकट रहता है, उसका वास्तविक अनुभव मुख्यतः अभाव का ही रहता है।

उसकी माँ नियमित रूप से उसका वज़न लेती है, उसकी प्रगति पर गर्व अनुभव करती है।

उसके लिए जो उपयोगी अनुभव है, वो प्रतिदिन के उन चंद आवंटित मिनटों में होते हैं, जब उसे गोद में उठाया जाता है, साथ ही उन खण्डित अंशों में जो उसकी विभिन्न आवश्यकताओं को स्वीकार्य हों, और उनके नियतांश (कोटा) में जोड़े जाते हों। जिस समय शिशु अपनी देखभाल करने वाले की गोद में होता है, तब कोई बालक दौड़ता और चीखता हुआ करीब आ सकता है और इस सुरक्षित अवस्था में अपने इर्दगिर्द

कुछ घटने के रोमांच को बढ़ा सकता है। उसके घर में अगर लिफ्ट लगी हो तो उससे शिशु को अचानक नीचे गिरने का सुखद अनुभव मिल सकता है। साथ ही होता है अचानक ऊपर उठने का अनुभव। जब वह सुख से माँ की गोद में लेटा हो तो उसे मोटरगाड़ी की मशीन की गुनगुन तब सुनाई देती है जब वह अचानक भीड़ में रुक जाए। कुत्तों का भौंकना और दूसरी अचानक होने वाली आवाज़ें भी होती हैं। इनमें से कुछ तो बच्चागाड़ी की सुरक्षा में झेल ली जाती हैं, पर दूसरी आवाज़ें बाहों के सुरक्षित घेरे के अभाव में उसे डराती हैं।

जो चीज़ें उसके करीब रखी जाती हैं, वे दरअसल उसके एवज़ में होती हैं, जिसका अभाव वह झेल रहा हो। परंपरा निर्देशित करती है कि खिलौने दुखी बच्चों को सान्त्वना देंगे। पर ऐसा शिशु के शोक या दुख को बिना स्वीकारे ही किया जाता है।

सबसे पहला और प्रमुख खिलौना एक भालू (टैंडी बीयर) या उस जैसी कोई मुलायम गुड़िया होती है, “जिसके साथ वह सो सके”। इस खिलौने का तात्पर्य शिशु में सतत् एक साथी होने का भाव जगाने का होता है। अंततः शिशु इस खिलौने के प्रति जो घनिष्ठ प्रेम दर्शाता है, उसे लड़कपन की झोंक का सुन्दर दृष्टान्त मान लिया जाता है, न कि उसके अभाव का प्रतीक, उस अभाव का जिसके चलते शिशु एक निर्जीव वस्तु को चिपटाए रखता है। इसलिए, ताकि उसकी ऐसे साथी की भूख शांत हो, जो किसी भी स्थिति में उसका साथ न छोड़े। बच्चा गाड़ी को हिलाना और झूलने वाले पालने भी ऐसी ही एवज़ी सुख उपलब्ध करवाते हैं। पर उनकी गति बाहों में उठाने की तुलना में इतनी कमज़ोर और अनगढ़ होती है कि एकाकी शिशु की कामनाओं को तृप्त नहीं कर पाती। अपर्याप्त होने के साथ ही यह बेहद अनियमित भी है। उसकी बच्चागाड़ी और पालने से भी झुनझुनाने वाले खिलौने लटकते हैं, जो शिशु के छूने पर खनकते या झुनझुनाते हैं। वे अक्सर चटक रंगों में और रस्सी से लटकते होते हैं, ये शिशु को दीवार के अलावा देखने को कुछ उपलब्ध करवाते हैं। बेशक वे उसका ध्यान आकर्षित करते हैं। पर वे अगर कभी भी बदले गए तो लम्बे अंतराल के बाद ही बदले जाते हैं। अतः वे शिशु के विकास के लिए आवश्यक दृश्य-श्रव्य अनुभव उपलब्ध नहीं करवा पाते।

अपनी तमाम कमी के बावजूद हिलाने-डुलाने, झुलाने, झुनझुनाने, खड़खड़ाने

और विभिन्न रंगों वाले ये खिलौने बेकार नहीं जाते। सातत्य जो हर समय अपनी अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए प्रस्तुत रहता है, जो भी हिस्सा या अंश उसे मिलता है, उसे ही स्वीकार लेता है। ये अनुभव कभी-कभार ही, कुछ टुकड़ों में आते हैं और किसी सातत्य समृद्ध शिशु के अनुभवों की तरह मिश्रित नहीं होते (जब शिशु बाहों में हो, और उसकी इंद्रियों पर दृश्य छवियाँ, ध्वनियाँ, गतियाँ, गंध और स्वाद सामंजस्यपूर्वक काम कर रहे होते हैं, जैसे हमारे साझे पूर्वजों में किया करते थे), और यद्यपि कुछ अनुभव नियमितता से दोहराए जाते हैं, तो कुछ पूरी तरह छोड़ दिए जाते हैं। उपरोक्त तथ्य उपयुक्त सामग्री के रूप में उनको अंगीकार करने को रोकता नहीं। क्षैतिज व ऊर्ध्व, दोनों ही प्रकार के अनुभव की सहज निरंतरता हमारी इन्द्रियों के समक्ष यह भ्रम पैदा करती है कि एक ही कृत्य चल रहा है। पर यह भी देखा जा सकता है कि प्रत्येक घटक अलग-अलग काम करता है, ताकि उसी रेखा में विकास की अगली आवश्यकता स्वीकारी जा सकती है। अगर इस आवश्यकता की पूर्ति पर्याप्त मात्रा में होती है, तो वह उसी रेखा की अगली आवश्यकता की ओर बढ़ा ले जाती है। आचरण की जो बारीकियाँ कारण और प्रभाव के रूप में परस्पर जुड़ी नज़र आती हैं, उन्हें भी स्वतंत्र रूप से प्रोत्साहित आचरण के रूप में दर्शाया जा सकता है।

यह बात संभवतः अन्य पशुओं की आचरण संबंधी आवश्यकताओं की आपूर्ति में अधिक साफ दिखाई देती है। इसलिए, क्योंकि जो कुछ करने पर वे स्वयं को बाध्य पाते हैं, उन आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति तार्किक स्पष्टीकरण की ज़रूरत से बाधित नहीं होती।

एक कापुचिन बंदरिया, जिसे मैं अपने पहले अभियान में साथ लाई थी, अपने केले का जितना हिस्सा उसे सही लगता खा जाती थी (यह केला मैं उसे छीलकर देती थी)। तब यह जताते हुए मानो वह कुछ खास नहीं कर रही, वह शेष हिस्से को कागज़ के नैपकिन में लपेट लेती। ऐसा करते समय उसके चेहरे का भाव ऐसा होता मानो उसके हाथ क्या कर रहे हैं, उसे मालूम ही न हो। तब वह उस इलाके का चक्कर लगाने लगती मानो कोई यों ही टहलने निकला हो। फिर अचानक वह उस रहस्यमय पैकेट को खोज लेती। अपनी बढ़ती उत्तेजना जाहिर करते हुए वह कागज़ फाड़ती और अंदर छिपा खज़ाना पा लेती। देखो तो ज़रा! एक आधा खाया केला! वाह भाई। पर तब नाटक ठप्प

हो जाता। वह कुछ ही समय पहले खा चुकी होती थी, सो अब अपने ईनाम पर कूद नहीं सकती थी। वह उस केले को फिर से कागज़ की फटी चिन्दियों में लपेटती और अपना नाटक फिर से शुरू कर देती। उसने मुझे यह विश्वास दिला दिया कि खाना तलाशने और उसके छिलकों को, जैसे फलों या मूंगफली आदि के छिलकों को, उतारने की उसकी आवश्यकता, उसके खाने के संवेदन से स्वतंत्र है। खाना तलाशने और छिलके उतारने का जो क्रम प्रकृति ने उसकी प्रजाति के क्रमविकास के दौरान स्थापित किया था (और जो उसके अनुभवों की अपेक्षाओं की पूर्ति करता था) उसे मैंने अपनी नेक नियती में हरा दिया था। मैं सोचती थी कि मैं उसकी ज़हमत घटा रही हूँ। पर उस वक्त मैं सातत्य के सिद्धान्त को समझती नहीं थी। वह अपनी तीव्रतम संवेदना के चलते पहले खाना खा लेती। जैसे ही तृप्ति के कारण भूख की कामना शांत होती, अगली सशक्त संवेदना उभर आती। भोजन तलाशने की उसकी इच्छा सर्वोपरि बन जाती। अब स्थितियाँ इस तलाश के अनुरूप तो होती नहीं थीं, उसका केला तो नंगा और आँखों से दिखाई देने वाला होता था। सो वह दृश्य को खुद बनाती, और तब अपनी तलाश करती। कागज़ हटाते समय की उसकी उत्तेजना महज ढोंग नहीं होती थी। मुझे पक्का विश्वास है कि उस समय उसके दिल की धड़कनें बढ़ जाती होंगी। वह वास्तविक आतुरता के तमाम मनोवैज्ञानिक संकेत देती थी। तब भी, जब इस आतुरता का लक्ष्य अर्थात् खाना, दरअसल पहले ही प्राप्त हो चुका होता था। शिकारी आचरण का वास्तविक लक्ष्य तो अनुभव की आवश्यकता की संतुष्टि ही था और यह तभी हासिल हो सकता था जब सातत्य के अनुभव का प्रत्येक घटक कारण, प्रभाव तथा लक्ष्य के रूप में उसे मिल पाता।

जीवन का लक्ष्य है जीवन; कुशलक्षेम का लक्ष्य है उसे प्रोत्साहित करना जो कुशलक्षेम का भाव पैदा करता हो। प्रजनन, प्रजनकों की रचना के लिए होता है। यह चक्रिक प्रभाव, हताशाजनक रूप से निरर्थक होने के बाद भी सभी प्रभावों में श्रेष्ठतम (एवं एकमात्र) प्रभाव होता है। यह तथ्य कि हमारी प्रकृति ही पूरी तरह से स्वाभाविक होना है, जो उसे “अच्छा” बनाता है, क्योंकि अच्छा होना एक सापेक्ष शब्द है। मानव की संभावनाओं से सापेक्ष यही होना, सभी संभव विकल्पों में श्रेष्ठतम है।

ऐसे आचरणों के तमाम मानवीय उदाहरण हैं, जो एक निश्चित क्रम में अपनी

आवश्यकताओं को पूरा करने के हों, जिसके चलते वे किसी भी दूसरे उद्देश्य की पूर्ति को रोकते हैं। ऐसे आचरण अक्सर सातत्य के अनुभवों की आवश्यकताओं से संबंधित होते हैं, जिन्हें किसी साँस्कृतिक प्रतिरूप (पैटर्न) ने मूल क्रम से बाहर निकाल दिया हो। ऐसा निष्कासन बुद्धि के आदेश पर, समय की बरबादी, अकुशलता या दुष्टता के नाम पर किया गया होता है। हम बाद में इन अभिव्यक्तियों में से कुछ पर गहराई से विचार करेंगे। परन्तु फिलहाल उस बंदरिया के आचरण से समतुल्य एक घटना पर विचार करें। यह है भोजन के बदले एक खेल के रूप में शिकार करना। शारीरिक श्रम की बचीखुची संवेदनाओं का उपयोग गोल्फ कोर्सों में, भू-तल में बनी कार्यशालाओं में, और नावों के तल में उन लोगों द्वारा किया जाता है जो ऐसा कर पाने की हैसियत रखते हैं। कम भाग्यशाली वंचित लोग बागवानी, स्वयं करो परियोजनाओं, मॉडल निर्माण और नौसिखियों द्वारा पकवान बनाने के प्रयोग से ही स्वयं को संतुष्ट करते हैं। स्त्रियों में, सामान्यतः जो अपने घरों की देखभाल से भी वंचित होती हैं, उन्हें हम दरी बुनने, कढ़ाई, पुष्प सज्जा, चाय का कर्मकाण्ड (टी-सेरेमनी) व परोपकार के लिए किए गए तमाम स्वैच्छिक कामों में देखते हैं। ये काम कार्मिकों की कमी झेल रहे अस्पताओं में, पुराने कपड़ों की दुकानों में, या शोरबा रसोइयों (सूप किचन) में किए जाते हैं।

तो शिशु भी अपने प्रत्येक सकारात्मक अनुभव को, चाहे वह किसी भी क्रम में क्यों न हुआ हो, और उसका चरित्र कितना भी खण्डित क्यों न हो, एकत्रित करता जाता है। इस एकमात्र प्रक्रिया के अंत में यह ज़रूरी है कि उसके पास किसी भी अनुभव की न्यूनतम आवश्यक मात्रा हो। ताकि वह उसका उपयोग कर अनुभवों के अगले चरण में बढ़ सके। पूर्व में हुए अनुभवों के नियतांश (कोटा) के बिना अगले चरण के अनुभव अगर हज़ार बार भी हों, वे व्यक्ति की परिपक्वता में कोई योगदान नहीं कर सकते।

गोदी में उठाए जाने के अनुभव से वंचित शिशु हालाँकि अनुभव के उन कतरों को सहेजता जाता है, जो उसे होते हैं, पर साथ ही साथ वह अपनी पीड़ा को राहत देने के लिए क्षतिपूर्ति का आचरण भी विकसित करता चलता है। अपने चर्म की झनझनाहट भरी चाहत को दूर भगाने के लिए वह यथासंभव हिंसक तरीके से लतियाता है। वह अपनी इंद्रियों को धुँधला करने की चेष्टा में अपना सिर इधर-उधर घुमाता है। वह अपना शरीर अकड़ता है। पीठ को यथासंभव ज़ोर से तानता है। यह सब वह इसलिए करता है ताकि



उसे अभाव महसूस न हो। वह जान लेता है कि उसके अपने अंगूठे से उसे कुछ राहत मिलती है। उसके मुँह की लगातार महसूस होने वाली इच्छा कुछ हद तक शांत होती है। वह उसे असल में कम चूसता है; उसकी भूख शांत करने लायक दूध उसे बेशक मिलता है। वह अपना अंगूठा केवल तब चूसता है जब उसे अपनी समय सारिणी के तयशुदा समय से पहले दूध पीने की इच्छा हो। अमूमन वह अपना अंगूठा अपने मुँह में उस असहनीय शून्यता, सतत् एकाकीपन को रोकने, इस भाव के विरुद्ध करता है कि सब कुछ का केंद्र कहीं और है।

उसकी माँ, अपनी माँ से सलाह करती है और उसे बताया जाता है कि लगातार अंगूठा चूसने का भविष्य में शिशु के दाँतों पर असर पड़ेगा। उसके कुशलक्षेम की चिंता से प्रेरित हो उसकी माँ तब उसकी सभी उंगलियों पर बदबूदार लेप लगा देती है। जब यह उकसाने वाली ज़रूरत शिशु को बेहद परेशान करती है तो शिशु एक अँगूठे को कड़वे बदबूदार लेप के बावजूद चूस लेता है। यह देख माँ उसकी कलाईयाँ पालने से बांध देती है, पर पाती है कि अपने बंधे हाथों को छुड़ाने की चेष्टा में शिशु ने उन्हें कुछ ऐसे घुमाया है कि उसके एक हाथ का रक्त संचार ही रुक गया है। और जल्दी ही दूसरे हाथ का भी यही हश्र होना तय है। यह लड़ाई जारी रहती है, जब तक कि वह दंत विशेषज्ञ से समस्या का जिक्र नहीं करती। वो उसे आश्वासित करता है कि उसकी माँ की धारणा गलत है और शिशु को यह स्वाल्प सान्त्वना की अनुमति दी जानी चाहिए।

कुछ ही समय बाद शिशु संकेत दे पाने की दूरी पर किसी को पा मुस्कुराने और घुरघुराने लगता है। अगर उसे उठाया नहीं जाता, पर फिर भी उस पर ध्यान दिया जाता है, तो वह मुस्कुराता है, और ध्यान पाने के लिए चीखता है। अगर उसे उठा लिया जाता है तो मुस्कुराने का मकसद पूरा हो जाता है। अब वह मुस्कान फिर से केवल तब लौटती है जब वह अपने साथी से कोई अन्य आनंददायक प्रतिक्रिया चाहता है। जैसे, आवाज़े निकालना, उसके पेट पर गुदगुदी करना, घुटने पर बैठा कर उछालना, या उसकी नाक को हल्के से दबा देना।

क्योंकि जब भी माँ पास आती है शिशु मुस्कुराता है माँ को भरोसा हो जाता है कि वह एक प्रसन्न शिशु की चहेती माँ है। शिशु की जगी स्थिति के शेष भाग में जो कटु अग्नि-परीक्षा से शिशु गुजरता है, वह उसमें माँ के प्रति कोई नकारात्मक भाव नहीं

जगाता। इसके विपरित वह स्थिति शिशु में माँ के साथ होने की ललक को और गहरा बनाती है।

जैसे-जैसे शिशु परिपक्व होता जाता है और उसकी संज्ञानात्मक क्षमताएँ जागृत होती हैं वह माँ के भाव में उस वक्त आया अंतर पहचाने लगता है, जब उसका पोतड़ा गीला हो चुका हो और उसे बदलने की ज़रूरत हो। माँ अपना सिर एक ओर मोड़ती है, जो यह दिखाता है कि उसे शिशु को साफ कर उसे आरामदायक स्थिति में लाना नापसंद है। उसके हाथ रुखाई से चलते हैं, और शिशु का यथासंभव कम स्पर्श करते हैं। उसकी आँखों में सर्दपन होता है, वह मुस्कुराती नहीं है।

इस बरताव के प्रति जागरूकता जैसे-जैसे पैनी होती है, शिशु को पोतड़ा बदलते समय मिलने वाला सुख, उसका ध्यान रखा जाना, छूना, और लगातार पोतड़ा बंधे रहने से हुई खरिश से कुछ पल राहत पाने का भाव एक विचित्र से भ्रम से मिल जाता है। यह भाव भय और अपराधबोध के पहले उपजने वाला भाव है।

संतान के साथ-साथ माँ को अप्रसन्न करने का डर भी बढ़ता है और माँ की अप्रसन्नता अब उसके कई-कई कृत्यों से पैदा होने लगती है। इसमें माँ के बाल खींचना, खाना गिराना, माँ के कपड़ों पर लार टपकाना (और तो और एक दूसरा रहस्य यह है कि वह कुछ कपड़ों पर लार टपकाने से उतना नाराज़ नहीं होती, जितना कुछ दूसरे कपड़ों पर टपकाने से), उसके मुँह में उंगली घुसाना, उसकी माला खींचना, या अपनी बरबस चली लात से चाय का प्याला लुढ़काना आदि शामिल हैं।

इनमें से अधिकांश कृत्यों को तो वह माँ की प्रतिक्रिया से जोड़ भी नहीं पाता। चाय का प्याला गिरते उसने देखा ही नहीं होता। उसे समझ नहीं आता कि माला खींचने से माँ अचानक ऐसा घृणा भरा बरताव क्यों करती है। कहीं भी लार टपकाने के प्रति वह बेखबर होता है और दलिया का प्याला, जो उसने ध्यान पाने के लिए गिराया था, गलत किस्म का ध्यान आकर्षित करता है। फिर भी ऐसा ध्यान बेध्यानी से उसे बेहतर लगता है, सो वह प्याले को उस उपकरण से बाहर फेंकता है, जिसके अंदर उसे खाने के लिए जकड़ा गया है। जब माँ उसे चम्मच से खिलाने की कोशिश करती है वह अपने हाथ चलाता है, लतियाता है, और चीखता है ताकि यह कृत्य एक बेहतर अवसर बन सके। वह सहीपन के भाव को तलाशता है जो इस सामग्री में कहीं तो छुपा हो सकता है। पर

अपने तमाम संकेतों के बावजूद वह ऐसा कर नहीं पाता। बल्कि उसकी कोशिशें माँ द्वारा अब तक दिए जा रहे ध्यान को भी एक तरह के अस्वीकार में बदल देती हैं। कुछ समय बाद शिशु के लिए इसका अर्थ समझना भी आसान हो जाएगा। जबकि प्रारंभ के अंतहीन युगों में वह माँ द्वारा नकारे जाने का अर्थ समझ नहीं पाता था। उसकी उपेक्षा और उसकी तलब अब तक उसके जीवन की विशेषताएँ बन चुकी हैं। उसने इसके सिवा दूसरा कुछ जाना ही नहीं है। उसके लिए स्व का अर्थ है कामना, इंतजार करना। अन्य का मतलब है वह व्यक्ति जो खुद को पीछे रोके रहे, अनुक्रिया न करे। संभव है कि वह इन स्थितियों पर, हालाँकि वे उसके जीवन भर बनी रहेंगी, गौर तक न कर सके। शायद इस कारण कि वह स्व और अन्य के बीच किसी वैकल्पिक प्रकार के संबंध की कल्पना ही न कर सकता हो।

गोद उठाए जाने के अनुभव का अभाव, इसके परिणामस्वरूप शिशु के आत्मविश्वास में आई कमी, और उसमें जगा अलगाव का भाव, वह जो कुछ भी बनेगा उसे अनुकूलित और प्रभावित करेगा। वह एक ऐसी खाई के किनारे बढ़ेगा जहाँ उसके स्व का भाव बौना रह जाएगा। यहाँ यह समझना होगा कि शिशु के प्रारंभिक जीवन में ऐसा कोई तंत्र नहीं होता जो किसी अयोग्य माता की त्रुटियों को सही कर सके। ऐसे माँ की त्रुटियों को जिसमें सातत्य का सिद्धान्त सही तरह काम न कर रहा हो, जो शिशु के संकेतों पर उचित अनुक्रिया नहीं करती हो, जो शिशु की अपेक्षाओं को पूरा करने के बजाए उसके विरुद्ध हो। बाद में, जब उसकी बुद्धि विकसित हो जाए, यह संभव है कि वह समझ ले कि उसकी माँ और उसके हित परस्पर विरोधी हैं। ऐसे में बड़े होने पर वह स्वयं को बचाने के लिए स्वतंत्र आचरण करने का संघर्ष कर सकता है। पर मूलतः वह पूरी तरह यह *विश्वास* नहीं कर सकता कि उसकी माँ उसे बिना शर्त प्यार नहीं करती, सिर्फ इसलिए प्यार नहीं करती कि उसका अस्तित्व है। हालाँकि वह चीख-पुकार कर यह घोषणा कर सकता है कि वह सच्चाई को बेहतर जानता है। शिशु को चाहे कितने ही विपरीत प्रमाण क्यों न मिलें, तथ्यों की उसकी बौद्धिक समझ चाहे जो भी हो, माँ का चाहे वह कितना ही विरोध क्यों न करे, उसके कृत्यों के प्रति विद्रोह क्यों न करे, कुछ भी उसकी इस बुनियादी धारणा को मिटा नहीं सकता कि वह उसे प्यार करती है। सब कुछ के बावजूद उसे प्यार करना ही चाहिए। माँ (या माँ समान किसी व्यक्ति) के प्रति

“घृणा” इसी धारणा से स्वयं को मुक्त करने की लड़ाई की अभिव्यक्ति है।

स्वतंत्रता का विकास तथा भावनात्मक रूप से परिपक्व होने की ताकत दरअसल गोद में उठाए जाने के चरण में स्थापित संबंध के सभी पक्षों से उपजती है। अतः कोई भी व्यक्ति अपनी माँ से स्वतंत्र तब ही हो सकता है जब वह उसके माध्यम से स्वतंत्र बने। माँ द्वारा उसकी भूमिका सही तरह निभाए जाने के माध्यम से, उसे गोदी उठाने का अनुभव देने के माध्यम से, और जब यह आवश्यकता पूरी हो जाए तो उसे आगे बढ़ने की अनुमति देने के माध्यम से।

परन्तु व्यक्ति स्वयं को एक सातत्य भाव से शून्य माता से कभी मुक्त नहीं कर सकता। उसकी आवश्यकता तो बनी ही रहती है। हम केवल कांटे से लटके “नास्तिक” की तरह ही संघर्ष कर सकते हैं, जो स्वर्ग में ईश्वर के सिंहासन के समक्ष मुट्ठियाँ तानता है। चीखता है “कि मैं तुझमें विश्वास नहीं करता!” वह ऐसी गालियाँ बकता है जो सार्थक रूप से केवल तब दी जा सकती हैं, जब कोई वृथा ही ईश्वर का नाम ले रहा हो।

1950 में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने लंदन स्थित टैविस्टॉक क्लिनिक के डॉ. जॉन ओल्बी को “अपने ही देशों में बेघर बच्चों” की नियति पर एक रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा था। उन्होंने जिन बच्चों का अध्ययन किया वे प्रत्येक देश के मातृत्व वंचना के बेहद अतिवादी मामले थे और उनकी संख्या हज़ारों में थी। उन्होंने क्षेत्रों के कार्यकर्ताओं से जो सूचनाएँ एकत्रित की वे अनेकों वर्ष तथा स्थितियों से संबंधित थीं। अध्ययन में शैशव काल से संस्थाओं में रह चुके बच्चे शामिल थे, कुछ ऐसे बच्चे भी जो पालक गृहों में पले-बढ़े थे और अन्य जिनकी उनके ही माता-पिता ने उपेक्षा की थी। अपने विकास के अहम चरण में अस्पतालों में भर्ती शिशु और बच्चे, युद्ध के शरणार्थी बच्चे और जो विभिन्न परिस्थितियों के कारण नाम मात्र के लिए भी अपनी माँ के साथ ऐसे संपर्क में नहीं रह सके थे जिसे सामान्य माना जाता है।

मातृत्व देखाभाल की कमी से उपजी भावनात्मक प्रवंचना के अलावा अन्य कारणों से प्रवंचित बच्चों को, साक्ष्यों को सावधानी से जाँचने के बाद अध्ययन से निकाल दिया गया। इस रिपोर्ट के वर्णन और आँकड़ों से जो छवि नज़र आती है वह भीषण व्यक्तिगत यातनाओं की है। कल्पनातीत यातनाओं की, जो दासियों, सैकड़ों, हज़ारों शून्यता भरे जीवनो में वंचना के कारण छा जाती हैं। भारी वंचना के कारण “स्नेहहीन चरित्रों” की

कथाएँ यह रिपोर्ट सुनाती है। ऐसे लोगों की कथाएँ जो संबंध जोड़ने की क्षमता ही खो चुके हों। जिसका तात्पर्य है कि वे कभी भी जीवन तक का मूल्य समझ नहीं सकेंगे। यह रिपोर्ट उनकी उस यंत्रणा का दस्तावेज समेटती है जो अपनी माता से प्रेम पाने के जन्मसिद्ध अधिकार के लिए अब भी सक्रिय संघर्ष कर रहे हों। वे झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, हिंसक हमले करते हैं, या जॉक की सी ताकत से अपने मातृवत् लोगों से चिपके रहते हैं। वे इस आशा में शिशुवत् आचरण की ओर लौट जाते हैं ताकि उनके अंतस में बसे अनुभव के भूखे शिशु को अंततः शिशुवत् बरताव मिल सके। यह प्रतिवेदन बताता है कि ये निराश लोग अपने बच्चे होने पर उनसे भी प्रेम नहीं कर पाते और यों अभाव की उस स्थिति को कायम रखते हैं। उनके बच्चे भी उनकी ही तरह बनते हैं – स्वविरोधी, समाज विरोधी, दे पाने में असमर्थ, जिनकी नियति भी हमेशा भूखे रहने की ही हो।

मानव के व्यक्तित्व में शैशव के अनुभव का महत्त्व सर्वाधिक है। जो कोई इस तथ्य पर विश्वास न करता हो उसके लिए अकाट्य प्रमाण, उदाहरण और सबूत मौजूद हैं। इन मामलों की अतिवादी प्रकृति वस्तुओं को बढ़ा-चढ़ाकर दर्शाने वाले काँच (मेग्निफाइंग ग्लास) के समान है, जिसके सहारे हम प्रवंचना और सामान्य मानी जाने वाली अधिक व्यापक व सूक्ष्म वंचनाओं तथा उनके प्रभावों को साफ-साफ देख सकते हैं। ये “सामान्य” वंचनाएँ हमारी संस्कृतियों में अब कुछ इस तरह गुंथी उलझी हुई हैं कि उन पर हमारा ध्यान तब तक नहीं जाता, जब तक वे शेष लोगों के लिए कीमत और खतरे के रूप में प्रकट न हों (उदाहरण के लिए हिंसा, पागलपन या अपराध के रूप में)। और तब भी उन्हें केवल धुंधले से रूप में ही समझा जाता है।

जब से बुद्धि ने अपने सिद्धान्तों के जुलूस के साथ कमान थामी, मानव शिशु के भाग्यचक्र में कई और भयावह उतार-चढ़ाव हो चुके हैं। उनकी देखभाल के तौर-तरीकों में हुए संशोधनों या उनमें आए क्रांतिकारी बदलावों के कारणों का सातत्य के “कारणों” से खास जुड़ाव नहीं रहा है। जब ये बदलाव सही दिशा में भी हुए, तब भी सातत्य के सिद्धान्त से संबंधित न होने के कारण वे खण्डित और अनउपजाऊ ही रहे हैं।

ऐसा एक सिद्धान्त खण्ड एक अमरीकी प्रसव शाला में लागू किया गया। वहाँ किसी को यह सूझा कि लाउडस्पीकर द्वारा शिशु को उस वक्त दिल की धड़कने सुनाई जाएँ जब वे अनुभव से वंचित होने की पहली यातना भोग रहे हों। इस छोटे से योगदान

का प्रभाव इतना शांतिदायक था और इससे शिशुओं के स्वास्थ्य में इतना सुधार आया कि इस प्रयोग ने दुनिया-भर का ध्यान आकर्षित किया।

ऐसा ही एक, दूसरा, पर स्वतंत्र, प्रयोग समय से पहले जन्मे शिशुओं की देखभाल के एक विशेषज्ञ द्वारा किया गया। इस प्रयोग ने दर्शाया कि जब नन्हे शिशुओं को ऐसे इन्क्यूबेटरों में रखा जाता है, जिन्हें मशीन की मदद से झुलाया जाए तो उनके विकास में सुधार आता है। दोनों ही स्थितियों में शिशुओं का वजन तेज़ी से बढ़ा और उनकी रुलाई में कमी आई।

हैरी हारलो ने अद्भुत प्रयोगों से सिद्ध किया कि शिशु वानरों के मनोवैज्ञानिक विकास में माता वानरों द्वारा चिपटाना महत्वपूर्ण है।

जेने वेन लैविक-गुडॉल ने, एक ऐसी घटना में जो निश्चित रूप से अब तक की सबसे बड़ी विडंबना होगी, अपने चिंपाज़ी मित्रों में शिशु देखभाल के प्रेरणास्पद उदाहरण पाए। एक भिन्न प्रजाति होने के बावजूद चिंपाज़ियों का आचरण वर्तमान इन्सानों की तुलना में मानव सातत्य के कहीं अधिक निकट था। उनके उदाहरण को अपने बच्चे पर लागू कर, जेन लिखती हैं, “उसे पालने में चीखते-रोते नहीं छोड़ा जाता था। हम जहाँ कहीं जाते उसे साथ ले जाते थे। इससे हालाँकि उसका वातावरण अक्सर बदलता रहता, पर अपने माता-पिता के साथ उसका रिश्ता स्थायी रहता।” वे आगे बताती हैं कि चार वर्ष की आयु में उनका बेटा “आज्ञाकारी, बेहद सतर्क और खुशमिजाज़ है, वह दूसरे बच्चों और वयस्कों से बखूबी घुल-मिल जाता है, तुलनात्मक रूप से निर्भय है और दूसरों का खयाल रखता है।” पर उनका सबसे महत्वपूर्ण कथन शायद यह है “साथ ही हमारे दोस्तों की तमाम भविष्यवाणियों के विपरीत वह बेहद स्वावलम्बी है” पर यह कहते समय मूलभूत सिद्धान्त गायब हैं, जब जेन अपने अगले वाक्य द्वारा अपने सत्य के टुकड़े को अंतर्दृष्टि से पृथक कर देती हैं : “पर बेशक यह भी संभव था कि अगर हमने उसे भिन्न तरीके से पाला होता, तो भी वह शायद ठीक ऐसा ही होता।

जब इंग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिया ने बच्चागाड़ी को स्वीकारा था, उसके प्रभाव पर (अर्थात् बच्चागाड़ी के उपयोग के प्रचलन पर) शोध की जा सकती है। हम यह जान सकते हैं कि बाद की पीढ़ियों के चरित्र पर बच्चागाड़ी का क्या असर हुआ, पाश्चात्य

पारिवारिक जीवन को इसने कैसे प्रभावित किया। क्या बच्चागाड़ी के आविष्कार का वहीं हश्र होता जो उस येक्वुआना गाँव के क्रीड़ा दड़बे (प्लेपेन) का मैंने होते देखा था?

मैं अपना काम खत्म कर चुकी थी जब मैंने टुडुडु को उस पर काम करते देखा था। उस क्रीड़ा दड़बे में एक चौकोर आधार पर लताओं से बंधी खड़ी लकड़ियाँ थीं, मानो एक प्रागितिहासिक क्रीड़ा दड़बे को कार्टून-चित्र की आकृति दी गई हो। इसे बनाने में बहुत श्रम करना पड़ा था और टुडुडु अपने आप से उस वक्त काफी प्रसन्न नज़र आ रहा था, जब उसने लकड़ी के अंतिम उभरे हुए हिस्से की छँटाई की।

वह अपने बेटे कानानसिन्यूवाना को तलाशने लगा, जिसने सप्ताह भर पहले डग भर चलना सीखा था। जैसे ही टुडुडु ने नन्हे को देखा, उसे उठा लिया और बड़े गर्व से अपने नए आविष्कार में रख दिया। कानानसिन्यूवाना कुछ क्षण क्रीड़ादड़बे के बीच अचंभित-सा खड़ा रहा, और तब एक ओर आगे बढ़ा, मुड़ा और उसे समझ आ गया कि वह उस घेरे में कैद है। अगले ही क्षण वह चीख कर भय का संदेश देने लगा। यह ऐसी ध्वनि थी जो उसके समाज के बच्चों से बिरले ही सुनाई पड़ती थी। पर उस ध्वनि में कोई संशय न था। क्रीड़ा दड़बा गलत है, मानव शिशुओं के लिए अनुपयुक्त। टुडुडु का सातत्य का भाव, जो किसी भी अन्य येक्वुआना के समान सशक्त था, अपने बेटे के चीखने का अर्थ लगाने में कतई नहीं हिचका। उसने बेटे को बाहर निकाला और उसे अपनी माँ को ढूँढने दौड़ जाने दिया। माँ ने उसे तब तक पुचकारा जितना समय उसे अपने सदमे से उबरने में लगा, और तब पुनः जाकर खेलने को तैयार हो गया। टुडुडु ने अपने प्रयोग की असफलता को बिना प्रश्न उठाए स्वीकारा : क्रीड़ादड़बे पर एक अंतिम दृष्टि डाल उसने उसे कुल्हाड़ी से तोड़ दिया। उसने हरी लकड़ी इस्तेमाल की थी सो उसे सुबह के अपने परिश्रम के बदले जलावन की लकड़ी तक नहीं मिली। मेरा पक्का विश्वास है कि यह क्रीड़ादड़बा न तो येक्वुआना लोगों का पहला प्रयोग था, न ही आखिरी। परन्तु उनकी सातत्य की समझ उन्हें ऐसी स्पष्ट गलती को देर तक जारी रखने की अनुमति नहीं देती। अगर हमारी सातत्य की समझ हमारे अस्तित्व के बीस लाख वर्षों तक हमारे आचरण पर इस बुनियादी स्तर का असर नहीं डालती, तो हमारी बुद्धि में अंतर्निहित खतरों को सीमित नहीं कर पाती। आज की सच्चाई यह है कि इस

समझ को हाल में इस कदर अशक्त बना दिया गया है कि हमें अस्थिरता या “प्रगति” ही यशस्वी नियति लगने लगी है। परन्तु, यह तथ्य ज़रा भी नहीं बदलता कि सातत्य का भाव हमारी मानवीयता का ही एक अंतर्भूत पक्ष है। क्रीड़ादड़बे को तोड़ता टुडुडु होने के लिए ही हम क्रमशः विकसित हुए हैं। और अगर हमारी समझ न गड़बड़ाती तो हम ऐसे ही बने रहते। इस समझ को जिसने भी पटरी से उतारा उससे धोखा न खाते और यों हम बुद्धि के अज्ञानी हाथों में इतने खतरनाक तरीके से सौंप न दिए गए होते।



## 4

### बढ़ना

जब शिशु को बाहों का भरपूर आसरा और संवेदन मिल चुका होता है, तो वह आगे बाहर को, माँ से परे की दुनिया को, देखने में समर्थ बन पाता है। वह खुद को लेकर आश्वस्त होता है और उस कुशलक्षेम का आदी भी, जो उसकी प्रकृति कायम रखती है। वह समुचित अनुभवों के अगले क्रम के लिए आतुर होता है। वह तब घुटनों के बल रेंगने लगता है, और अपनी माँ की उपलब्धता को जाँचने के लिए वापस भी लौटता है। उसे उसी जगह पा वह और दूर तक जाता है, और उसके वापस लौटने में कमी आती है। वह रेंगना (कुहनियों, पैर के अंदरूनी भाग से, और पेट के बल) छोड़ सरकने लगता है (हाथों और घुटनों के सहारे)। उसका फुरतीलापन वातावरण के विषय में उसकी जिज्ञासा के साथ बढ़ता है। यह जिज्ञासा उसका सातत्य ही उपलब्ध करवाता है।

सतत् संपर्क बनाए रखने की उसकी आवश्यकता तब शीघ्र ही कम हो जाती है, जब उसका नियत कोटा पूरा हो जाता है। और शिशु, नन्हे, बालक या वयस्क को इस संपर्क से मिलने वाली ताकत की आवश्यकता केवल तब पड़ती है, जब वह ऐसे तनाव में आ जाए, जिससे वह अपनी मौजूदा शक्तियों से निपट न सके। ये पल भी लगातार बिरले होते जाते हैं। उसकी आत्मनिर्भरता तेज़ी से गहन और व्यापक होने लगती है। जो लोग केवल सभ्य बालकों से परिचित हैं, ऐसे बालकों से जिन्हें बाहों के संपूर्ण अनुभव

से वंचित रखा गया हो, उन्हें यह सब बेहद आश्चर्यजनक लग सकता है। जिन बच्चों में कुछ दिशा में आगे विकास हो रहा हो, जबकि कुछ दूसरे उनके पूर्ण होने की प्रतीक्षा में कुछ पीछे रह गए हों, उनमें इस स्थिति का प्रभाव उनके उद्देश्यों को विभाजित करता है : वे ध्यान का केन्द्र बने रहने की इच्छा के बिना कुछ भी दूसरा नहीं चाह पाते। वे अपने सामने आई समस्या पर कभी पूरा ध्यान नहीं दे पाते। उनका एक अंश अब भी ऐसे ही किसी व्यक्ति की बाहों का आनंद चाहता है, जो उसकी सारी समस्याओं का समाधान कर दे। वे तब अपनी बढ़ती ताकत और कौशलों का पूरा उपयोग नहीं कर पाते, जब उनका कोई अंश अब तक भी बाहों में असहाय बना रहना चाहता हो। उनका हरेक प्रयास कुछ हद तक प्यारे शिशु के प्रयासहीन सफलता की अंतर्निहित इच्छा से लगातार संघर्ष करता रहता है।

जिस बालक के पास सातत्य के अनुभव की ठोस पृष्ठभूमि हो उसे अपनी माता से शारीरिक दिलासे की ज़रूरत केवल आपात स्थितियों में ही पड़ती है। मैं एक येक्वुआना लड़के को जानती थी, जो दाँत के दर्द के मारे अपनी माँ से चिपट ज़ोर से चीखता आया था। वह तकरीबन दस साल का था और इस कदर आत्मनिर्भर और मददगार कि मैं उसे बेहद अनुशासित मानती थी। मेरी सुसभ्य नज़र में वह अपनी भावनाओं को स्वयं तक रखने में उस्ताद था। अतः मेरी उम्मीद यह थी कि वह इस परिस्थिति में भी न रोने का ज़बरदस्त प्रयास करेगा, या अपने साथियों को इस हालत में खुद को देखने नहीं देगा। पर साफ था वह पीड़ा पर अपनी प्रतिक्रिया को दबाने की कोई कोशिश नहीं कर रहा था, न ही अपनी माँ की बाहों में मिलने वाली उस आदिम सांत्वना की आवश्यकता को छिपा रहा था।

किसी ने कोई बतंगड़ नहीं बनाया, पर सबने समझा। उसके कुछ दोस्तों ने पास खड़े रह मुझे उसका दाँत उखाड़ते देखा। उन्हें यह स्वीकारने में कोई परेशानी न हुई कि वह बहादुरों की श्रेणी से निकल कर अचानक माँ पर निर्भरता की बचकानी श्रेणी में जा पहुँचा है। न उनकी ओर से मखौल उड़ाने की कोई चेष्टा हुई, न इस बच्चे ने कोई शर्म जताई। उसकी माँ शांत भाव से तब उपलब्ध रही, जब तक वह दाँत उखड़वा रहा था। मैंने जब-जब उसके दाँत को छुआ, वह पीड़ा से कुछ पीछे हटा, और भी ज़ोर से चीखा। पर वह वहाँ से न तो भागा, न ही दर्द पहुँचाने के कारण उसने मुझे नाराज़गी से देखा।

आखिरकार जब मैंने उसका दाँत मसूहों से निकाल दिया और खून के बहाव को रोक दिया, उसका चेहरा सफेद हो चुका था। वह थकान से पस्त अपने हैमक को लौट गया। घंटा भर भी नहीं हुआ होगा कि वह अकेले वापस लौटा, उसके चेहरे की रंगत लौट चुकी थी। उसकी समता फिर से स्थापित थी। उसने कुछ कहा नहीं, पर वह मुस्कुराया, चंद मिनटों तक आसपास कुछ करता रहा, मुझे दिखाने कि वह अब बिल्कुल ठीक है, और तब दूसरे लड़कों के पास चला गया।

दूसरी बार एक बीस वर्ष का नौजवान था : मैं उसके पैर की उँगली में शुरू हो रहे गैंगरीन को टॉर्च की रोशनी में काट रही थी। दर्द असहनीय रहा होगा। हालाँकि उसने मेरे द्वारा शिकारी छुरे से घाव को खुरचने में कोई बाधा नहीं डाली, वह बिना किसी संयम के अपनी पत्नी की गोद में रोता रहा। उसकी पत्नी, बच्चे की माँ की ही तरह पूरी तरह शांत थी और वह स्वयं को अपने पति के स्थान पर नहीं रख रही थी, पर पूरी तरह उपलब्ध थी। दर्द बढ़ने पर वह अपना सिर उसके शरीर में घुसेड़ता। सिर को गोद में इधर-उधर घिसता और सुबकता। उस समय तकरीबन आधा गाँव वहाँ मौजूद था। परन्तु इस तथ्य ने आत्म-नियंत्रण या नाटकीयता के प्रति उसकी प्रतिक्रिया को ज़रा भी प्रभावित नहीं किया।

क्योंकि येक्वुआना स्त्रियाँ, जब तक उनकी माता जीवित हे उसके ही साथ रहती हैं, पतियों को अपनी माँ को छोड़ अपनी पत्नी के परिवार में रहने जाना पड़ता है। सो यह काफी आम है कि आपदाओं के समय पत्नी ही अपने पति के लिए माँ का स्थान लेती है। पत्नी के पास सहारे के लिए उसकी अपनी माँ होती है, पर वह अंतर्बोध से अपने पुरुष को आवश्यकता पड़ने पर मातृवत् सहारा देती है। अनाथ वयस्कों के लिए भी एक रिवाज़ है, जिसमें उसे किसी दूसरे परिवार द्वारा गोद ले लिया जाता है। परिवार के संसाधनों पर इससे न्यूनतम असर पड़ता है, क्योंकि वयस्क येक्वुआना जितना उपभोग करते हैं, उससे कहीं अधिक योगदान करते हैं। और उन्हें एवज़ में यह अनकहा आश्वासन मिलता है कि ज़रूरत पड़ने पर उन्हें भी सहयोग मिलेगा। यह आश्वासन ही, चाहे उसे पूरा करने की कभी ज़रूरत तक न पड़े, स्थायित्व देने वाला घटक होता है। येक्वुआना लोगों में ऐसे भावनात्मक बीमे की ज़रूरत को मानव स्वभाव का स्वीकृत हिस्सा माना जाता है। यह उसके किसी भी सदस्य के उसकी स्वाभाविक परिस्थितियों के

देबाव में समाज विरोधी बनने से बचाने का उपाय है।

रंगने की स्थिति में आने के बाद, शिशु अपने पूर्व-अनुभवों की शक्तियों को भुनाने लगते हैं, और उसका मनोवैज्ञानिक विकास इन शक्तियों को उपयोग के योग्य बनाता है। सामान्यतः उसके पहले अभियान छोटे और सावधानी भरे होते हैं। और इस दौरान लगभग कभी भी उसकी माँ या देखभाल करने वाले को उसकी गतिविधियों में शिरकत करना ज़रूरी नहीं होता। सभी नन्हे पशुओं की तरह, शिशु में भी आत्मरक्षा का पैना गुण और अपनी क्षमताओं की एक वास्तविक समझ होती है। अगर उसकी माँ उसके सामाजिक अंतर्बंध को यह सुझाए कि अपना सुरक्षित आचरण उसे अपनी माँ के भरोसे छोड़ देना चाहिए तो शिशु भी सहयोग देते हुए ऐसा ही करेगा। अगर उस पर लगातार नज़र रखी जाए और उसे उस दिशा में बढ़ाया जाए जहाँ उसकी माँ को लगता है कि उसे जाना चाहिए, वह आत्म प्रेरणा से बढ़ रहा हो तब उसे रोका जाए या उसके पीछे दौड़ा जाए, तो वह जल्दी ही स्वयं के प्रति जिम्मेदार होना बंद कर देगा। इसलिए, क्योंकि उसकी माँ उसे बताती रहती है कि उससे किस बात की अपेक्षा है।

*इस बेहद सामाजिक मानव पशु के गहनतम मनोवेगों में एक है वह करना, जिसकी उसे लगता है, उससे उम्मीद की जा रही है।* (यह उससे अलग है जिसमें शिशु वह करे जो उसे कहा जाए।) उसकी प्रारंभिक बौद्धिक क्षमताएँ स्वाल्प होती हैं, पर उसकी सहज प्रवृत्तियाँ प्रारंभ में भी उतनी ही सशक्त होती हैं, जितनी जीवन के अंतिम पलों में। इन दो शक्तियों का मिश्रण, पहली जो तार्किक हो, सीखने पर निर्भर हो, व दूसरी जो सहजबोध से उत्पन्न हो, जिसके पास उसी प्रकार का अंतर्जात ज्ञान हो जो अन्य पशुओं का आजीवन मार्गदर्शन करता है — इन दोनों का पारस्परिक प्रभाव — यही मानव का चरित्र होता है। यही बुद्धि से परिष्कृत की गई, सहज कुशलता की अनूठी मानवीय संभावना है।

शिशु की प्रयोग करने और सावधानी बरतने की प्रवृत्तियों के अलावा, उसमें अपेक्षाएँ होती हैं। वह उस सबकी उम्मीद रखता है जो उसके पूर्वजों ने भोगा था। वह न केवल स्थान तथा उसमें विचरने की आज़ादी की उम्मीद करता है बल्कि विविध प्रकार की मुठभेड़ों की भी। वह अपनी अपेक्षाओं में पहले से अधिक लचीला भी बन चुका होता है। प्रारंभिक अनुभवों की कठोर आवश्यकताएँ, गोद में उठाए जाने के चरण में क्रमशः

विस्तृत होती जाती हैं और रेंगने, घुटनों से चलने के चरणों में परिस्थितियों व बरताव की सटीकता के बदले विविध प्रकार के अनुभव की अपेक्षाएँ जुड़ जाती हैं।

फिर भी अगर शिशु के अनुभवों को उसके काम आना है तो उन्हें कुछ सीमाओं में होना पड़ता है। अगर शिशु को विभिन्न किस्मों के विविध अवसर न मिलें और उनमें अन्य लोगों की आवश्यक भागीदारी न मिले, तो उसका सही विकास नहीं हो सकता। उसे उसके उपयोग से अधिक वस्तुएँ, परिस्थितियाँ और लोग उलब्ध होने चाहिए ताकि वह उनके बीच अपनी क्षमताएँ तलाशे और उन्हें विस्तृत कर सके। साथ ही इन वस्तुओं और परिस्थियों को उपयुक्त तरीके और उपयुक्त हद तक बदलना भी चाहिए, परन्तु क्रांतिकारी रूप से या अक्सर नहीं। यह उपयुक्तता हमेशा ही पूर्ववर्तिता से निदर्शित होती है। अतः उसका चरित्र भी, हमारे क्रमिक रूप से विकसित होते पूर्वजों को उनके शैशव में जो अनुभव हुए उनके अनुसार होना चाहिए।

उदाहरण के लिए किसी येक्वुआना ग्राम में एक घुटनों के बल रेंगने वाले बच्चे के लिए पर्याप्त से भी अधिक संख्या व गुणवत्ता वाले अजूबे खतरे, और सहसंबंध होते हैं जब वह अपना पहला अभियान करता है, वह सब कुछ को जाँचता है। वह अपनी ताकत और फुरती को मापता है और उस सबको भी नापता है जिसका वह सामना करता है। वह अवधारणाएँ गढ़ता है और समय तथा आकार में भेद करना सीखता है। वह अपनी माता के साथ एक नए संबंध को भी रचता है, जो क्रमशः माता पर प्रत्यक्ष निर्भरता से माता भरोसेमंद होने के ज्ञान में तब्दील होता जाता है। उसे अपनी माँ का सहयोग क्रमशः कम चाहिए है, पर ज़रूरत के समय उसे सहयोग मिलेगा, यह आश्वासन उसे होता है। उसका आत्मविश्वास, उसके लिए माँ की उपलब्धता के हिसाब से घटता-बढ़ता है, हालाँकि ऐसा अब कम ही होता है।

येक्वुआना लोगों में शिशु के प्रति माँ या शिशु की देखभाल करने वाले व्यक्ति का दृष्टिकोण तनावहीन होता है। वे बच्चों पर नज़र रखने के साथ अमूमन अन्य चीज़ों पर भी ध्यान देते हैं। फिर भी वे अपने रेंगने-सरकने वाले साहसिक के अपने पास लौटने को लेकर सजग होते हैं। माँ खाना पकाना या अपना दूसरा काम तब तक बंद नहीं करती, जब तक शिशु को उसके पूरे ध्यान की ज़रूरत न पड़े। वह उसे अपने तक आने की छूट देती है, या अगर वह कहीं जा रही हों तो बाहों के सहारे उसे कूल्हे पर टिकने की अनुमति देती है।

वह इन संपर्कों में पहल नहीं करती, न ही निष्क्रिय तरीके के अलावा उसमें कोई योगदान देती है। शिशु ही उसे ढूँढता आता है और वह क्या चाहता है का संकेत माँ को देता है। वह शिशु की इच्छाओं को पूरी तरह और खुशी-खुशी पूरा करती है, पर उसमें अपनी ओर से कुछ नहीं जोड़ती। इस सारे लेन-देन में शिशु ही सक्रिय होता है और वह निष्क्रिय। जब वह थक जाए तो वह सोने के लिए माँ के पास लौटता है, या भूखा हो तो खाने के लिए। इस विशाल दुनिया की उसकी जाँच-पड़ताल माँ तक लौटने से और माँ से दूर जाने के बावजूद, माँ के स्थायित्व के कारण अधिक पैनी और दृढ़ बनती है।

शिशु न तो माँ का पूरा ध्यान माँगता है, ना वह उसे दिया जाता है। इसलिए, क्योंकि उसकी कोई अपूर्ण कामनाएँ, कोई प्राचीन भूख नहीं होती, जो उसे यहाँ और अभी के प्रति समर्पित रहने से डिगाए। प्रकृति के मितव्ययी स्वभाव के अनुरूप शिशु को भी ज़रूरत से अधिक नहीं चाहिए होता।

जब शिशु हाथ और घुटनों के सहारे रेंगता है, वह काफी तेज़ गति से जा सकता है। येक्वुआना लोगों के बीच, मैंने ऐसे ही एक रेंगने वाले शिशु को चिंता से भर, एक पाँच फीट गहरे गड्ढे के पास तेज़ी से रेंग कर रुकते देखा। यह गड्ढा दीवार बनाने की मिट्टी खोदने के कारण बना था। वह दिन में कई बार किसी चट्टान के किनारे चरते पशु की सी लापरवाही से लुढ़क कर जा बैठता, कभी गड्ढे की ओर मुँह किए तो कभी उसकी ओर पीठ किए। वहाँ किसी लकड़ी, या पत्थर, या अपनी हाथ या पैरों की उँगलियों में व्यस्त हो वह खेलता और हर दिशा में लोट-पोट होता। लगता यह कि वह गड्ढे से बेखबर है। पर तब पता चला कि सिवाय खतरे वाले क्षेत्र के, वह हर जगह पहुँचता था। आत्म-रक्षा का वह तंत्र जो बुद्धि द्वारा निर्देशित नहीं होता, हमेशा असरकार रहता और यह बोध अपनी गणना में इतना सटीक था कि वह गड्ढे के कगार से लेकर किसी भी दूरी तक बिल्कुल सही काम करता था। उस शिशु पर कोई सीधी नज़र नहीं रखता था। बल्कि कहें कि वह उसके आस-पास खेल रहे बच्चों के एक समूह के ध्यान के सीमांत पर होता था, जो उस गड्ढे के प्रति उसकी ही तरह लापरवाह थे। ऐसे में अपने आस-पास की संभावानाओं से अपने रिश्ते की ज़िम्मेदारी उस शिशु ने स्वयं स्वीकार ली थी। उसके परिवार और उसके समाज ने उसे केवल यही सुझाया था कि वे उम्मीद रखते हैं कि वह अपनी देखभाल खुद कर सकेगा। हालाँकि वह अभी चल नहीं सकता था, वह

यह जानता था कि जरूरत पड़ने पर उसे कहाँ से सहारा मिल सकता है। पर उसे बिरले ही इस सहारे की जरूरत पड़ती थी। अगर उसकी माँ नदी की ओर या दूर किसी बागान में जा रही होती, तो वह उसे अक्सर साथ ले जाती। वह उसे उसके हाथ से उठाती, इस भरोसे कि वह स्वयं को उसके कूल्हे पर संतुलित बैठाने में सहयोग करेगा। अगर माँ ने उसे लटकाने के लिए कंधे पर कपड़ा बांधा हुआ होता, तो वह उस झोले में खुद को संभाल सकेगा। वह जहाँ भी जाती और उसे किसी सुरक्षित स्थान पर बैठाती, तो वह उम्मीद करती कि वह बिना किसी निरीक्षण के स्वयं को सुरक्षित रखेगा।

शिशु में आत्महत्या की वृत्ति नहीं होती और एक संपूर्ण बचाव तंत्र होता है : स्थूलतम स्तर पर इंद्रियों से लेकर अतिसूक्ष्म स्तर पर कारगर रोजमर्रा की टैलीपैथी (दूरबोध) तक। वह किसी भी नन्हे पशु की तरह आचरण करता है, जिसके पास फैसला ले पाने के लिए अनुभव का आधार नहीं हो। वह विकल्प चुनने के प्रति सजग हुए बिना ही, सुरक्षित काम करता है। शिशु स्वाभावतः अपने कुशलक्षेम की रक्षा करता है, क्योंकि उसके लोग उससे इसकी ही उम्मीद रखते हैं, और उसकी अंतर्जात क्षमताएँ तथा विकास का स्तर व अनुभव ऐसा करने में उसे सक्षम बनाते हैं। परन्तु छह, आठ या दस माह की उम्र में उसका अनुभव इतना कम होता है कि उससे खास मदद नहीं मिलती, और अगर परिस्थितियाँ नई हों तो कतई मदद नहीं मिल पाती। उसकी आत्मरक्षा का भाव उसके सहजबोध से ही आता है। फिर भी वह केवल एक स्तनपाई जीव ही नहीं है जो वानर बन गया हो। मानव की विशिष्ट खासियतें उसमें आने लगती हैं। वह प्रतिदिन अपने लोगों की संस्कृति सीखने की दिशा में बढ़ता है। इस समय वह अपने जीवन में अपने पिता और अपनी माता की भूमिकाओं में भेद करना सीखता है। उसकी माँ की भूमिका एकनिष्ठ बनी रहती है, जैसी अब तक अन्य लोगों की भी रही थी : वह एक ऐसी देने वाली, देखभाल करने वाली की भूमिका है, जो बदले में देने के संतोष के अलावा कुछ नहीं चाहती। उसकी माँ उसकी परवाह सिर्फ इसलिए करती है, क्योंकि वह है। उसका अस्तित्व ही माँ के प्रेम की गारंटी का पर्याप्त कारण है। उसकी बिना शर्त स्वीकृति स्थिर बनी रहती है और क्रमशः पिता उसके जीवन में महत्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में उभरता है। ऐसे व्यक्ति के रूप में जो उसके सामाजिक आचरण को विकसित करने में, और स्वावलंबन की दिशा में उसकी प्रगति में रुचि ले। उसके पिता का अनुमोदन तब

अभिव्यक्त होता है, जब उसने उसे अर्जित किया हो; परन्तु माता का अनुमोदन बिना शर्त होता है। उसके पिता का सतत् प्रेम भी माता के प्रेम के समान होता है, पर उसमें बच्चे के प्रदर्शन आधारित अनुमोदन से अनिश्चय का पुट भी होता है। इस प्रकार प्रकृति, स्थायित्व तथा सामाजिकता के प्रोत्साहन, दोनों को सुनिश्चित करती है। बाद में पिता स्वयं को बढ़ती स्पष्टता के साथ समाज के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत करेगा और बालक का मार्गदर्शन करेगा। वह उदाहरण से दिखाएगा कि उससे कैसा आचरण अपेक्षित है, वह यह भी दर्शाएगा कि जिन रीति-रिवाजों में वह सम्मिलित हो उनसे संबंधित उचित आचरणों में कौन-सा विकल्प उसे चुनना चाहिए।

शिशु की दुनिया में भाई, बहन व अन्य लोग पृथक-पृथक स्थान लेने लगते हैं। कुछ समय तक उसके संपर्क में रहने वाले सभी लोगों में मातृत्व भाव का थोड़ा पुट बना रहेगा, अलबत्ता इसकी मात्रा में लगातार कमी आती जाएगी। जब वह स्वावलम्बी बन रहा होगा, उसकी इच्छाओं का सम्मान करना पड़ेगा। उसकी मदद करनी होगी, उसकी रक्षा करना होगी। वह अपनी आवश्यकताओं का संकेत देता रहेगा, और उससे बड़े लोग उन संकेतों की अवज्ञा नहीं कर सकेंगे, जब तक कि किशोरावस्था के आगमन के साथ ये संकेत गायब न हो जाएँ। इस बीच वह स्वयं अपने से छोटे बच्चों से कोमलता के संकेत पा उनके प्रति मातृवत् व्यवहार करेगा जबकि अपने से बड़े बच्चों और वयस्कों में, जिन पर वह अब भी एक हद तक निर्भर है, स्वयं के प्रति ऐसा ही स्नेहमय आचरण उकसाएगा।

लड़कों के लिए प्रेरणा और उदाहरण का मुख्य स्रोत पुरुष बनेंगे, जिनसे वे संस्कृति में अपनी भागीदारी सीख सकेंगे। उनके समाज में चीजें कैसे की जाती हैं यह उन्हें पता चलेगा। नन्ही लड़कियाँ स्त्रियों की उस समय नकल करेंगी, जब उनके विकास का चरण यह माँग करे कि उनका संबंध भागीदारी में बदलना चाहिए।

अगर उपकरणों का निर्माण कठिन हो तो उन्हें उपलब्ध करवाया जाता है। उदाहरण के लिए बच्चे में नौका के चप्पू चलाने की या चप्पू चलाने का खेल करने की क्षमता वह अपने लिए स्वयं चप्पू बना सके उसके काफी पहले होती है। जब समय आता है तो बालक या बालिका को वयस्कों के चप्पू से छोटे आकार का चप्पू दे दिया जाता है। लड़के बोल सकें, उसके भी पहले उन्हें तीर और कमान पकड़ा दिए जाते हैं, ताकि वे आभ्यास



कर सकें। ये तीर सीधे होते हैं और लड़कों के कौशल को दर्शा सकते हैं।

एक नन्ही के कामकाजी जीवन के प्रथम पलों के समय में वहाँ मौजूद थी। वह तकरीबन दो वर्ष की थी। मैंने उसे स्त्रियों और बालिकाओं के पास खेलते देखा था। ये महिलाएँ एक तसले में कंद कस रही थीं। बच्ची ने कंद का टुकड़ा उठाया और पास बैठी बालिका की खुरचनी पर उसे घिसने लगी। वह टुकड़ा बहुत बड़ा था और उस खुरदुरी खुरचनी पर घिसते समय कई बार उसके हाथों से गिरा। एक स्नेहभरी मुस्कान और कंद का छोटा टुकड़ा उसके पड़ोस में बैठी स्त्री ने उसे थमाया और उसकी माँ ने उसके अपरिहार्य आवेग को पहचान उसे एक छोटी खुरचनी पकड़ा दी। नन्ही की स्मृति में उसने हमेशा ही स्त्रियों को खुरचने का यह काम करते देखा था। सो वह फौरन अपनी खुरचनी पर टुकड़े को ऊपर नीचे घिसने लगी।

मिनट भर में उसकी रुचि गायब हो गई, और वह खुरचनी को तसले में पटक कंद के टुकड़े पर बिना कोई असर डाले ही भाग गई। किसी ने उसे यह अहसास नहीं कराया कि उसका ऐसा करना हास्यास्पद था, या कोई “अचरच” की बात थी। बल्कि स्त्रियों को इसकी उम्मीद थी, क्योंकि वे सब जानती थीं कि देर-सबेर बच्चे संस्कृति से जुड़ते हैं। हालाँकि सांस्कृतिक गतिविधियों के प्रति उनका झुकाव और उनकी रफ्तार, उनमें बसी आंतरिक व्यक्तिगत ताकतों से निर्देशित होती है। इस तथ्य पर कोई प्रश्न नहीं उठाता कि अंतिम नतीजा सामाजिक, सहकारी तथा पूर्णतः स्वैच्छिक होगा। वयस्क व अन्य बच्चे केवल सहायता और सामग्री उपलब्ध करवाते हैं, जिसका प्रावधान बालक स्वयं नहीं कर सकता। बोलने के चरण के पूर्व का बच्चा भी अपनी आवश्यकताओं को स्पष्ट कर सकता है। अतः उसे ऐसा कुछ देना बेमानी होता है, जिसकी उसे फिलहाल ज़रूरत ही न हो। *आखिर बालक की गतिविधियों का लक्ष्य स्वावलम्बन का विकास ही तो होता है। उसे उसकी ज़रूरत से अधिक या कम सहायता देना उनके उद्देश्य को ही हरा देता है।*

सहायता की ही तरह देखभाल भी केवल अनुरोध के आधार पर की जाती है। शरीर को पोषण देने के लिए खाना खिलाना या आत्मा को पोषित करने के लिए लिपटाना-चिपटाना, न तो स्वतः अर्पित किया जाता है, न रोका जाता है। वह तो बस हमेशा ही सीधे सरल रूप में, सौम्य तरीके से उपलब्ध रहता है। सबसे बड़ी बात यह है कि बालक के व्यक्तित्व का सभी पक्षों में एक अच्छी वस्तु की तरह सम्मान किया जाता है। “खराब

बच्चे” की अवधारणा नहीं होती। न ही इसके विपरीत “अच्छे बच्चों” की धारणा को लेकर कोई फर्क किया जाता है। उनकी मान्यता यह रहती है कि बालक की मंशाएँ समाज विरोधी न होकर सामाजिक ही हैं। वह जो कुछ करता है उसे मूलतः एक “सही” जीव का “सही” काम माना जाता है। किसी भी आयु के अन्य लोगों के प्रति येक्वुआना लोगों के दृष्टिकोण में मान्यता यही रहती है कि मानव स्वभाव की विशेषता में सहीपन या सामाजिकता पहले से ही मौजूद हैं। यही वह आधार है जिसकी मदद से बालक का विकास उसके माता-पिता या अन्य लोग करते हैं।

शिक्षित करना, अपने मूल अर्थ में “बाहर को ले जाना” होता है। हालाँकि इस अर्थ में वह इस अधिक प्रचलित अर्थ निरूपण “ठोक कर कुछ ठूँसने से” बेहतर होता है, शिक्षा के ये दोनों ही अर्थ बालक की क्रमिक रूप से विकसित अपेक्षाओं से सुसंगत नहीं होते। बाहर ले जाना या अपने से किसी बड़े द्वारा निर्देशित होना बालक के विकास में हस्तक्षेप करने के समान है। इसलिए, क्योंकि इससे अपने नैसर्गिक और सबसे कारगर पथ से बालक को हटा, एक कम कारगर पथ पर पहुँचा दिया जाता है। अंतर्जात सामाजिकता की पूर्वधारणा *इस सार्वजनिक सभ्य मान्यता* से सीधे टकराती है कि बालक को सामाजिक बनाने के लिए उसके आवेगों पर लगाम लगाना ज़रूरी है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो मानते हैं कि तार्किकता तथा बालक के साथ “सहकार” करने से इन आवेगों को धमकाने, अपमान करने, या छड़ी का उपयोग करने से बेहतर तरीके से रोका जा सकता है। परन्तु इन दोनों ही दृष्टिकोणों में, और इन दो एकांतिक नज़रियों के बीच स्थित तमाम आम मान्यताओं में यह मान कर चला जाता है कि बालक का स्वभाव प्राकृतिक रूप से समाज विरोधी है। और इस स्वभाव को समाज स्वीकार्य बनाने के लिए उसे किसी दिशा में हाँकना-मोड़ना ज़रूरी है। येक्वुआना जैसे सातत्यमय समाजों में हमारे लिए कुछ बुनियादी रूप से अपरिचित या विदेशी है, तो वह अंतर्जात सामाजिकता की यह मान्यता ही है। अगर हम इस धारणा से और उसके निहितार्थों से प्रारंभ करें, तभी हम उस न पाटी जा सकने वाली खाई को देख सकेंगे, जो उनके विचित्र आचरण और उसके फलस्वरूप पाए गए कुशलक्षेम के ऊँचे स्तर और हमारी सावधानी से की गई गणनाओं और उनसे पाए हमारे निम्नस्तरीय कुशलक्षेम के बीच है।

हम देख ही चुके हैं कि बालक जितनी चाहे उससे अधिक या कम मदद देना उसके

विकास के लिए बाधक होता है। अतः बाहरी पहल या अनचाहे मार्गदर्शन का बालक के लिए कोई सकारात्मक उपयोग नहीं होता। वह अपनी स्वप्रेरणा से अधिक प्रगति कर ही नहीं सकता। *बालक की जिज्ञासा और स्वयं चीजों को करने की इच्छा ही उसके समूचे विकास के किसी भी अंश को बलि चढ़ाए बिना सीख पाने की उसकी क्षमता को परिभाषित करते हैं। मार्गदर्शन केवल कुछ क्षमताओं को ही उभार सकता है पर वो भी दूसरी क्षमताओं की कीमत पर, परन्तु फिर भी उसकी संपूर्ण क्षमताओं को उनकी आंतरिक सीमाओं के परे उभारा नहीं जा सकता।* जो उसके माता-पिता को उसके (या अपने लिए) सर्वश्रेष्ठ लगे उसमें निर्देशित होने की कीमत बालक अपनी पूर्णता में कमी द्वारा चुकाता है। उसका समस्त कुशलक्षेम, उसके पोषित या वंचित पक्षों का परिलक्षण, सीधे-सीधे प्रभावित होता है। उसके बड़े उसके आचरण को काफी हद तक अपने द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों से और बालक उनकी अपेक्षाओं को जैसा-जितना समझ पाता है उससे निर्धारित करते हैं। परन्तु अगर वे उसके उद्देश्यों को अपनी मंशाओं से बदल दें, या उसे “क्या करना है यह बताएँ”, तो भी वे उसकी पूर्णता में कुछ जोड़ नहीं सकते।

आदर्श स्थिति में बालक के समक्ष उदाहरण रखना, उसे अनुसरण करने के लिए कोई दिशा-संकेत देने का अर्थ उसे प्रभावित करना नहीं, बल्कि वह करना होता है, जो इंसान सामान्यतः करता है। बालक पर विशेष ध्यान न देना, बल्कि अपने काम से मतलब रखने का वातावरण बनाने को प्राथमिकता देना, बच्चे पर केवल तब ध्यान देना जब उसे इसकी ज़रूरत हो, और तब भी उतना ही ध्यान देना जितना उपयोगी हो। जिस बालक को गोदी उठाए जाने का पूरा अनुभव मिल चुका हो, उसे अपनी ज़रूरत से अधिक ध्यान की भीख माँगने की आवश्यकता भी नहीं होती। क्योंकि उसे केवल सभ्य परिस्थितियों के वातावरण से परिचित बच्चों के विपरीत न तो अपने अस्तित्व को लेकर आश्वासन की ज़रूरत होती है, न ही स्वयं के प्यार करने लायक होने के आश्वासन की।

सबसे आसान स्थितियों में इस सिद्धान्त को लागू किया जाए तो एक सभ्य माता अपने घरेलू काम में व्यस्त रहेगी और अपनी नन्ही बेटी को जिसमें वह रुचि ले रही है लेने देगी। वह उसे झाड़ू लगाने से प्रेरित होने पर एक छोटे झाड़ू से ऐसा करने देगी, या चीजों पर से धूल हटाने देगी, या उसे वैक्यूम करने देगी (बशर्ते घर में ऐसा कोई वैक्यूम क्लीनर हो जिसे नन्ही चला सकती हो)। या कुर्सी पर खड़े हो बर्तन माँजने देगी।

सच मानिए कोई तोड़-फोड़ नहीं होगी, ना ही वह नन्ही लड़की कुर्सी से नीचे टपकेगी। बशर्ते माँ किसी दुर्घटना की इतनी स्पष्ट आशा न रख रही हो कि उसकी बेटी का सामाजिक आवेग (जिसे वह स्वयं से अपेक्षित समझती है) उसका अनुपालन ही न करवा दे। एक चिंतित दृष्टि, माँ के दिमाग में जो चल रहा हो उसे शब्दों में कहना : “अरे, गिरना मत!” या यह वादा “सावधान! तुम गिर जाओगी!” हालाँकि ये सारे सुझाव बच्ची के आत्मरक्षा और नकल करने की वृत्ति के विरुद्ध जाते हैं, पर अंततः उसे उस आज्ञा को पालने पर बाध्य भी करते हैं। वह तशतरी गिरा देती है और/या कुर्सी से गिर जाती है।

एक प्रजाति के रूप में मानव की अनोखी बातों में एक यह भी है कि उसकी बुद्धि उसके क्रमिक रूप से विकसित स्वभाव का खण्डन कर सकती है। जब सातत्य का भाव पटरी से उतर जाए, उसके स्थिरक नपुंसक होने की सीमा तक असंतुलित हो जाएँ, तो जल्दी ही अनेकों विपथन नज़र आने लगते हैं। क्योंकि बुद्धि जितनी भलाई कर सकती है उतना ही नुकसान भी। इसलिए, क्योंकि बुद्धि अनभिज्ञ (अनइन्फॉर्मर्ड) स्थिति में, नेकनीयती में, किसी भी आचरण से प्रासंगिक तमाम अगणनीय घटकों पर विचार करने में उलझ सकती है।

सातत्य के सिद्धान्त में विश्वास खोने का एक अजीब परिणाम है अपने बच्चों को खुद से दूर भगा सकने की वयस्कों की क्षमता। सातत्य भाव से ओतप्रोत एक शिशु के दिल में, अपरिचित क्षेत्र में अपनी माता के पास बने रहने का भाव ही निकटतम होता है। हमारे समस्त स्तनपायी रिश्तेदारों और पक्षियों, सरीसृपों व मछलियों तक के बच्चे उनके पीछे-पीछे चलते हैं। ऐसा करना स्पष्टतः उनके ही हित में होता है। एक येक्वुआना नन्हा अपनी माँ से दूर हो जंगल के किसी पथ पर भटकने का सपना नहीं देखता। इसलिए, क्योंकि उसकी माँ पीछे पलट कर यह नहीं जाँचती कि वह पीछे आ रहा है या नहीं। वह यह सुझाती ही नहीं कि चुनने को कोई विकल्प है भी, या कि यह ज़िम्मेदारी माँ की है कि वह दोनों को साथ रखे। वह केवल अपनी चाल इतनी धीमी कर देती है कि वह साथ बना रह सके। वह यह जानती है कि बालक जब भी किसी कारणवश साथ नहीं बना रह पाता, तो रो पड़ता है। ज़रा सा गिरने पर जब वह खुद उठ कर, कुछ दौड़ लगा कुछ ही पलों में माँ के पास पहुँच जाए तो वह आवाज़ भी नहीं लगाता। उसका आचरण व्यावहारिक और बच्चे के लिए रूकना पड़े तो धैर्यवान, दोनों होता है। यह आचरण

सुझाता है कि माँ जानती है कि बालक आवश्यक से अधिक समय नहीं लगाएगा, और दोनों जल्दी ही अपनी राह पर साथ-साथ बढ़ सकेंगे। उसमें न्यायाधीश-सा कुछ नहीं होता। बालक की अंतर्जात सामाजिकता की माँ की मान्यता, बालक की वह करने की वृत्ति से मिल जाती है जिसे वह स्वयं से माँ की अपेक्षा समझता है। चाहे वे रुके हों, या बढ़ रहे हों, यह बुनियादी मान्यता अपरिवर्तित तथा अप्रश्नित रहती है।

फिर भी लाखों वर्षों की नज़ीरों तथा साथी पशुओं व साथी मनुष्यों के सुसंगत उदाहरणों के बावजूद हम अपने बच्चों को हमसे दूर भागने पर राज़ी कर लेते हैं।

चौथे अभियान के बाद मैं कई छोटे बच्चों के पीछे मैनहटन के सेंट्रल पार्क में वयस्कों को भागते देख भौंचक रह गई। माताएँ और आयाएँ, भौंडे तरीके से कूल्हों पर झुकी, फैले हाथों और पैनी आवाज़ों में निकल भागे बच्चों को धमका कर वापस लौटने को कहती देखी जा सकती थीं। वे अपने इस तनावपूर्ण प्रदर्शन को बदलते हुए, पार्क की बेंचों पर बैठे साथियों से वार्तालाप जारी रखने की चेष्टा भी करतीं और अपनी निगरानी में मौजूद उन बच्चों को हाँक भी लगाती जाती थीं, जो अनुमत दूरी की सीमा से निकल गए हों। या फिर ये महिलाएँ उछल कर भगोड़े बच्चों की पीछे दौड़ती जो खेल के नियमों को समझ चुके थे और उनकी निगरानी के ढीले पड़ने की राह ताकते रहते और मौका पाते ही भाग छूटते।

एक सरल सा सुझाव, “वहाँ न जाना, जहाँ मैं तुम्हें देख न पाऊँ”, जो कुछ चिंता अपेक्षा के साथ दिया जाता है, वह गुमशुदा बच्चों के विभाग में गहमागहमी को बढ़ा देता है। और जब यह सुझाव “ध्यान से, तुम खुद को चोट लगाओगे,” के वादे से मिल जाता है तो नतीजा, डूबने, गिरने या सड़क दुर्घटनाओं के रूप में मिलता है। बच्चे का ध्यान मुख्यतः अपनी देखभाल करने वाले व्यक्ति के साथ इच्छाशक्ति के युद्ध में स्वयं से अपेक्षित भूमिका पर केंद्रित रहता है। अतः चुनौती देने वाले नन्हे का अपने वातावरण से एक ज़िम्मेदारीपूर्ण तंत्र बाधित हो जाता है। यों वह अचेतन रूप से उस बेवकूफी भरे आदेश की अनुपालना करने पर बाध्य होता है। अगर उसको अस्पताल में होश आए तो उसे यह जान खास अचरज भी नहीं होता कि उसे एक कार ने टक्कर मारी थी। क्योंकि आखिर यही वादा तो उसकी देखभाल करने वाले ने अक्सर किया था।

क्योंकि अवचेतन मस्तिष्क तर्क नहीं करता, उसका तंत्र अनुभव को आदत में

तब्दील करने वाले का होता है। वह आचरण को स्वचालित बना डालता है, जिससे चेतन मस्तिष्क का ध्यान बारबार दोहराए जाने वाले काम पर जाता ही नहीं है। सूचनाओं को संसाधित करने वाले तंत्र स्थिर करने, और कायम रखने के अनुभव संबंधी आंकड़े शामिल तथा संतुलित करने का काम करता है। इसलिए, क्योंकि यह सब कर पाना तर्कबुद्धि जैसी गैर-भरोसेमंद क्षमता के परे है। और क्योंकि अवचेतन मस्तिष्क सतर्क होता है, उसे आसानी से यह विश्वास नहीं दिलाया जा सकता है कि जो कहा जा रहा है वह सच है। खासकर तब, जब कहने वाले का स्वर और उसके कृत्य उसके कहे झूठला रहे हों। अतः अवचेतन मस्तिष्क का तर्क अक्सर “तार्किकता” के विपरीत होता है। ऐसे में यह संभव है बच्चा अपनी देखभाल करने वाले के तर्क को समझता हो और स्वयं भी उसी तरह तर्क करता हो, फिर भी विपरीत आचरण करने को प्रेरित हो जाता हो। दूसरे शब्दों में, संभावना अधिकतर यह होती है कि वह वैसा आचरण करे, जिसकी उसे लगता है उससे अपेक्षा रखी जा रही है। बनिस्बत ऐसे आचरण के जो उसे करने को कहा जा रहा हो। उसकी स्थायी बन चुकी माँ द्वारा *स्वीकारे जाने की असंतुष्ट कामना*, माँ अथवा उसके प्रतिनिधि द्वारा अपेक्षित काम को करने की ज़रूरत को आत्म-विनाश की हद तक पुष्ट करते हैं। जिस बालक का सातत्य का भाव पुख्ता हो उसमें कुछ उचित काम करने की अंतर्जात प्रवृत्तियाँ होती हैं। जैसे नकल करने की, खोज करने की, जाँचने की, स्वयं या दूसरों को चोट न लगाने की, बरसात से बचने की, जब लोग उचित आचरण करें तो मधुर ध्वनियाँ निकालने की, और मोहक चेहरे बनाने की, अपने से छोटे बच्चों के संकेतों पर उचित अनुक्रिया करने की, आदि-इत्यादि। जबकि कोई वंचित बालक, या वह बालक जिससे असामाजिक आचरण की अपेक्षा रखी गई हो, औचित्य के अपने अंतर्जात भाव को इस हद तक लांघ सकता है कि वह दूसरों की अपेक्षाओं की आवश्यकता और प्रभाव्यता को ही पार कर डाले।

प्रशंसा और दोषारोपण के परिचित कृत्य बच्चों के उद्देश्यों को नष्ट कर डालते हैं, खासकर उन बच्चों के जो सबसे छोटे हों। जब बालक कुछ उपयोगी काम करे, जैसे खुद अपने कपड़े पहन लेना, कुत्ते को खाना खिलाना, कुछ जंगली फूल चुन लाना, मिट्टी के लोंदों से राखदानी बनाना, तो उसके सामाजिक आचरण पर आश्चर्य जताने से अधिक हतोत्साहित करने वाला कुछ भी नहीं हो सकता। “अरे! क्या लड़की है!” “देखो तो

जॉर्जी ने खुद-ब-खुद क्या बनाया है!” जैसी अभिव्यक्तियों का निहितार्थ यह होता है कि बच्चे में सामाजिकता अनपेक्षित, अचारित्रिक, और असामान्य है। संभव है कि बच्चे की बुद्धि इससे प्रसन्न हो, पर साथ ही उसमें अपेक्षित कार्य करने में असफल होने की असहजता भी जगेगी। क्योंकि अपेक्षित कार्य ही बालक को उसकी संस्कृति, उसके कबीले, उसके परिवार का वास्तविक हिस्सा बनाता है। स्वयं बच्चों में भी “हे राम, देखो तो मेरी ने स्कूल में क्या बनाया है!” जैसा वाक्य अगर पर्याप्त अचरज से कहा जाए, तो मेरी असहज हो जाएगी। खुद को अपने साथियों से कटा महसूस करने लगेगी। इस कथन का असर वैसा ही होगा मानो किसी ने कहा हो, “हे राम, मेरी तो मुटल्ली है!” या दुबली है, या लम्बी, या नाटी, या चतुर, या बेवकूफ है। कुछ ऐसी है, जैसी होने की उससे उम्मीद नहीं थी। दोषारोपण भी, खासकर अगर उसे “तुम हमेशा यह करती हो” के ठप्पे से रेखांकित कर दिया जाए, असामाजिक आचरण के अपेक्षित होने का सुझाव देता है। अतः विनाशकारी होता है। “रूमाल खो दिया ना, यह तो होना ही था”, “वह तो शैतानी से भरा है”, नाउम्मीदी से भर कंधे उचकाना, या “लड़के तो लड़के ही रहेंगे”, जैसा आरोप लगाना यह निहितार्थ रखता है कि, बच्चे में बुरापन आंतरिक रूप से बसा ही हुआ है। या चेहरे के भाव से यह जताना कि बच्चे के दुराचरण ने आश्चर्यचकित नहीं किया है, का भी वैसा ही विनाशकारी असर होता है, जैसा सामाजिक आचरण पर आश्चर्य जताने या प्रशंसा करने का।

बालक की सहकार की आवश्यकता का भी अगर इस्तेमाल किया जाए तो रचनात्मकता अवरूढ़ हो सकती है। किसी का महज ऐसा कुछ कहना “भई, अपने रंग बाहर बरामदे में ले जाओ, मैं नहीं चाहती कि तुम यहाँ गंदगी फैलाओ।” यह संदेश कि चित्र ‘गंदगी’ ही होगा सीधे निशाने पर लगता है। माँ जो अपेक्षा उससे रख रही है, उसे करने की आवश्यकता को लाँघ पाने के लिए बालक में भारी रचनात्मक अंतःप्रेरणा होनी होगी। मुस्करा कर या युद्ध घोषणा की तरह चीखकर, उसके खराब बच्चे होने की यह घोषणा समान रूप से प्रभावी सिद्ध होगी।

बालक की अंतर्जात सामाजिकता की पूर्वमान्यता के लिए बालक की प्रवृत्तियों तथा अपेक्षाओं की अंतर्वस्तु व उनके स्वरूप का ज्ञान ज़रूरी होता है। यह तो स्पष्ट है इन प्रवृत्तियों में नकल करने, सहकार करने, और स्वयं तथा प्रजाति के संरक्षण का रुझान

होता है। परन्तु इनमें कुछ विशिष्ट वृत्तियाँ भी शामिल होती हैं जैसे शिशुओं की देखभाल करना आना और देखभाल की क्षमता होता। नन्ही बालिका की मातृत्व की अंतःप्रेरणा को तवज्जो न देना, घर में असली शिशुओं के होते हुए भी उसे इस अंतःप्रेरणा को गुड़ियों की दिशा में मोड़ना, दूसरी तरह के प्रभाव डालने के अलावा, बड़े होने पर इस नन्ही के भावी बच्चों के लिए भी नुक्सानदेह होगा। अपनी माँ के निर्देश समझ पाने के भी पूर्व कोई छोटी बालिका सहजबोध द्वारा शिशुओं के प्रति वैसा ही सटीक बरताव करती है, जिसकी शिशुओं को अनंत काल से ज़रूरत रही है। जब वह देखभाल के वैकल्पिक तरीकों पर विचार करने लायक हो उसके भी पहले से ही उसमें शिशु देखभाल की विशेषज्ञता होती है और उसे विकल्पों पर विचार करने का कोई फायदा नज़र नहीं आता। वह अपना बचपन जब भी मौका मिले शिशुओं की देखभाल करते बिताती है। ये शिशु उसके परिवार के, या पड़ोसियों के हो सकते हैं। जब शादी करने का समय आता है न केवल उसके पास डॉक्टर स्पॉक्स से चर्चा करने का कोई मसला नहीं होता, बल्कि वह तमाम ऐसी भंगिमाएँ और संचालन जानती है, जिनकी मदद से वह खाना पकाते, बागवानी करते, सफाई करते, चप्पू चलाते, सजते, सोते, नाचते, नहाते, खाते या दूसरा कुछ भी करते समय बच्चे को थामे रख सकते हैं। उसके मानस में एक ऐसी गहरी भावना भी बसी होती है जो उसके अपने या शिशु के सातत्य के लिए अनुपयुक्त कृत्य पर विद्रोह करे।

मैंने तीन या चार साल की आयु से ही (और कभी तो वे इससे भी छोटी लगती थीं) येक्वुआना लड़कियों को शिशुओं की पूरी ज़िम्मेदारी उठाते देखा है। जाहिर था कि यही उनका सबसे पसंदीदा काम था, पर यह उन्हें साथ-साथ दूसरे तमाम काम करने से रोकता नहीं था। मसलन आग संभालना, पानी लाना, आदि। वे अपनी देखरेख में होने वाले शिशुओं से वैसे नहीं ऊबती थीं, जैसे शायद गुड़ियों से ऊब जातीं। लगता है कि सातत्य शिशुओं के सरंक्षण में सर्वाधिक सबल होता है। और शिशुओं को जो स्नेहमय देखभाल और अनंत धैर्य की ज़रूरत होती है, वह प्रत्येक बालक में मौजूद होती है, मय लड़कों के। हालाँकि लड़कों को बिरले ही शिशुओं की देखभाल का काम लंबे अरसे के लिए सौंपा जाता है, फिर भी उन्हें शिशुओं को उठा, उनसे खेलना पसंद आता है। किशोर जब अपनी दिन भर की गतिविधि से लौटते हैं, वे खेलने के लिए शिशुओं को



तलाशते हैं। वे नन्हों को हवा में ऊपर तक उछालते हैं और तब वापस थाम लेते हैं। वे ज़ोर-ज़ोर से हँसते हैं और अपने कबीले के नन्हे सदस्यों के साथ मौज-मस्ती करते हैं। इससे उन शिशुओं का अनुभव भी विस्तृत होता है और उनका प्यारे होने का भाव भी समृद्ध होता है।

बालकों व वयस्कों की अंतर्जात सामाजिकता की पूर्वमान्यता जितना ही अत्यावश्यक है यह मानना कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना मालिक है। किसी अन्य व्यक्ति पर स्वामित्व की धारणा येक्वुआना लोगों में नहीं होती। इस विचार का कोई अस्तित्व नहीं होता कि यह “मेरा बच्चा” या “तुम्हारा बच्चा” है। दूसरे व्यक्ति को, चाहे उसकी आयु कुछ भी क्यों न हो, क्या करना चाहिए यह तय करना येक्वुआना शब्दावली और आचरण के बाहर है। प्रत्येक क्या करता है सबकी रुचि का विषय होता है, पर किसी को बाध्य करना तो दूर की बात है, प्रभावित करने तक का आवेग उनमें नहीं होता। बालक की इच्छा ही उसके उद्देश्य तय करती है। वहाँ गुलामी नहीं है – आखिर अपनी इच्छा को दूसरे पर लादने, धमकी या सज़ा से बाध्य करने को हम गुलामी न कहें तो कैसे परिभाषित करेंगे? येक्वुआना लोगों को यह नहीं लगता कि बालक की शारीरिक कमज़ोरी और निर्भरता का मतलब है कि उसे किसी वयस्क से कमतर सम्मान दिया जाए। बच्चों को ऐसी आज्ञाएँ नहीं दी जातीं, जो उनके रुझानों के विपरीत हों। उसे कैसे खेलना चाहिए, कितना खाना चाहिए, कब सोना चाहिए आदि नहीं बताया जाता।

परन्तु जहाँ भी उसकी सहायता की ज़रूरत हो उससे उम्मीद रखी जाती है कि वह तत्काल मदद करेगा। “ज़रा पानी ले आना!” “कुछ लड़की चीर देना!” “मुझे यह पकड़ाना ज़रा!” या “बच्चे को एक केला दे दो।” जैसे आदेश उसी अंतर्जात सामाजिकता की मान्यता के तहत इस पक्के ज्ञान के आधार पर दिए जाते हैं कि एक बच्चा अपने लोगों के काम आना चाहता है, साझे काम में भागीदारी करना चाहता है। कोई भी यह निगहबानि नहीं करता कि बच्चों ने आदेश माना है या नहीं। सहकार करने की दूसरे की इच्छा पर कभी कोई शंका नहीं करता। क्योंकि वह एक सामाजिक प्राणी है, वह बेहिचक और अपनी पूरी क्षमता से, वह करता है जिसकी उससे अपेक्षा की गई हो।

यह अविश्वासनीय रूप से कारगर है। परन्तु मैंने अपने दूसरे अभियान में एक तकरीबन साल भर की आयु के बच्चे पर गौर किया, जो किसी तरह से अपने सातत्य के

केंद्र से भटका हुआ लगता था। मैं कह नहीं सकती कि ऐसा किस वजह से हुआ होगा। पर संभवतः यह महज इत्तेफाक नहीं था कि उसका पिता, वेनिटो नामक एक वृद्ध, उस इलाके का एकमात्र येक्वुआना था जो हिस्पानी भाषा बोल सकता था। उसने जवानी में रबर बगानों में काम करते समय हिस्पानी सीखी थी। उसकी पत्नी पेमेन्टांग भाषा जानती थी, जिससे संकेत मिलता था कि वह आगे पूरब में बसे इण्डियनों के बीच रह चुकी थी। हो सकता है कि अपनी असामान्य रूप से बहुदेशीय जीवन में उन्होंने कुछ सत्तावादी उपयोग सीख लिए हों जिससे उनके सातत्य पर अतिक्रमण हो गया हो। मुझे पता नहीं। विडिडि, उनका बेटा, एकमात्र बच्चा था जिसे मैंने बदमिजाज़ी करते, किसी बात का ज़ोर-ज़ोर से चीख कर विरोध करते देखा था। दूसरे बच्चे इसके बजाय बिना तनाव में आए रोते थे। चलना सीखने के कुछ समय बाद उसने दूसरे बच्चों को पीटा। यह देखना रोचक था कि अन्य बच्चे उसे बिना उत्तेजित हुए देखते रहे। आक्रामकता का विचार उनके लिए इतना विदेशी था कि उन्होंने इसे ऐसे लिया मानो उन्हें किसी पेड़ की शाखा ने मारा हो, या किसी दूसरे प्राकृतिक कारण से उन्हें चोट लगी हो। विडिडि को पलट कर पीटने की बात उन्हें सपने तक में नहीं सूझी। उन्होंने अपना खेल जारी रखा, बिना विडिडि को उससे बाहर किए। मैंने विडिडि को बाद में तब फिर से देखा जब वह पाँच साल का हो गया था। उसके पिता की मृत्यु हो चुकी थी और गाँव के मुखिया अंछू ने, जो वेनिटो का करीबी दोस्त था, विडिडि के पिता या नेता की भूमिका ले ली थी। यह लड़का अब भी खुशमिजाज़ येक्वुआना मानक से भटका हुआ लगता था। उसके चेहरे पर और जिस तरह से वह अपना शरीर संचालित करता था उससे एक तरह का तनाव नज़र आता था। वह किसी सभ्य बालक की याद दिलाता था।

हवाईपट्टी की ओर हमारे साथ चलते समय अंछू विडिडि को भी साथ लाया, जैसे हमारी टोली के अन्य सदस्य अपने छोटे लड़कों को नया अनुभव देने को लिए लेते आए थे। विडिडि नौका चालन अच्छी तरह सीख चुका था। क्योंकि नौका चालन का सबसे भारी काम गलही (नाव का अग्र भाग) पर तथा उसका सूक्ष्म संचालन पिच्छल (नाव का पिछला भाग) पर होता था, विडिडि अक्सर पिच्छल में चप्पू चलाता था, जबकि मुखिया अगले भाग में काम करता था। उनके बीच खास बातचीत नहीं होती पर सही आचरण की अंछू की सतत् अपेक्षा साफ थी। रास्ते में जब हम माँस के टुकड़े बांटते, अंछू अपना

हिस्सा हमेशा विडिडि के साथ साझा करता। कभी तो यह लगता कि विडिडि भी अन्य येक्वुआना लड़कों की तरह शांत और कुशल बन गया है।

परन्तु हवाईपट्टी के पास बने शिविर में एक दिन अंछू शिकार पर जाने की तैयारी कर रहा था। विडिडि उसे बढ़ती घबराहट के साथ देखता रहा। अंछू की हरेक हरकत पर उसकी आँखें टिकी थीं और उसका चेहरा उसके आँतरिक द्वंद को दर्शाने लगा, उसके होठ थराने लगे। जब अंछू के धनुष और तीर तैयार हो गए विडिडि का वक्ष उठने-गिरने लगा, और तब वह सुबकने लगा। अंछू ने उसे कुछ भी नहीं कहा था, न उस पर कोई फैसला सुनाने जैसी दृष्टि ही डाली थी। पर विडिडि जानता था कि लड़के अपने नेता के साथ शिकार पर जाते हैं, और उसे साथ नहीं जाना था। बहस करने को अपने सिवा उसके पास कोई था नहीं, क्योंकि अंछू तो शिकार पर जा रहा था। विडिडि क्या करता है, यह उसका निजी मसला था। विडिडि के असामाजिक पक्ष ने 'ना' कहा था। परन्तु उसकी अंतर्जात सामाजिकता, जो अब अंछू द्वारा मुक्त कर दी गई थी, 'हाँ' कह रही थी। अंछू ने तीर कमान उठाया और पगडंडी पर बढ़ने लगा। विडिडि चीखा और उसका पूरा शरीर हिलने लगा। इस समय तक उसका उद्देश्य और विपरीत उद्देश्य बराबर हो चुके थे। वह वहीं खड़ा चिल्लाता रहा, अनिर्णय उसे झकझोर रहा था। उस समय मुझे समझ नहीं आया कि इस स्थिति में कौन से सिद्धान्त काम कर रहे हैं। मैंने तो सिर्फ यही देखा कि विडिडि यातना में है, क्योंकि वह अंछू के साथ गया नहीं है। मैं उसके पस गई, उसके कंधों पर अपना हाथ रखा और तेज़ी से उसे पगडंडी पर बढ़ाने लगी। मैंने उसके साथ घास का मैदान पार किया और वहाँ पहुँची जहाँ अंछू जंगल में गायब हो जाने को था। मैंने आवाज़ लगा उसे रुकने को कहा। पर अंछू न तो मुड़ा न उसकी चाल धीमी हुई। मैंने फिर आवाज़ लगाई, और जोर से, पर वह जंगल में गुम हो गया। मैंने विडिडि को धक्का दिया और तेज़ चलने को कहा। मैंने सोचा था कि मैं विडिडि की मदद कर रही हूँ और अंछू को निराश होने से बचा रही हूँ। पर दरअसल मैं हस्तक्षेप कर रही थी। वह भी अपनी संस्कृति के ठेठ अनगढ़पन के साथ। मैं अपनी इच्छा बालक पर थोप रही थी और उससे सही काम करवाना चाहती था। जबकि अंछू एक अधिक मज़बूत सिद्धान्त पर काम कर रहा था ताकि बालक मुक्त हो और स्वयं सही काम करे। संभव है कि घटना में मेरे योगदान ने विडिडि की प्रगति को कई सप्ताह पीछे धकेल दिया हो। अंछू की प्रणाली

शायद विडिडि पर से हर प्रकार का दबाव हटा संतुलन स्थापित करने के कगार पर थी। दबाव हटने पर संभव था कि चीजों का हिस्सा बनने की विडिडि की स्वाभाविक इच्छा उन कारणों को लांघ पार्ती जो उसे विद्रोह करने को उकसा रही थीं।

मुझे दृढ़ विश्वास से दबाव डालने की अनुपस्थिति, एक व्यक्ति द्वारा दूसरे पर अपनी इच्छा लादने की वृत्ति की नामौजूदगी पर विश्वास करना कठिन लगा। मैं इसे समझ तक न पाई। हालाँकि येक्वुआना लोग तमाम उदाहरणों द्वारा मुझे यह दिखाते रहे थे।

तीसरे अभियान के प्रारंभ में, हम नदी के ऊपरी हिस्से पर जाने की तैयारी कर रहे थे। मैंने अंछू से जानना चाहा कि क्या तादेहाह, जो नौ-दस साल का लड़का था, हमारे साथ चल सकता है। हम अपनी यात्रा को फिल्माने वाले थे और तादेहाह खासतौर से सुंदर लड़का था।

अंछू उस लड़के और उसकी उपमाता के पास गया और मेरे आमंत्रण की बात बताई। तादेहाह ने कहा कि वह चलना चाहेगा। पर उसकी उपमाता ने अंछू के साथ यह संदेश भेजा कि मैं अभियान के बाद तादेहाह को अपनी माँ के पास घर पर नहीं ले जाऊँ। मैंने लड़के को वापस लाने का वादा किया। जिस दिन हम यात्रा पर मदद के लिए पाँच येक्वुआना पुरुषों के साथ निकले तादेहाह अपने हैमक को साथ ले आया और एक नौका में अपने लिए एक स्थान तलाश लिया।

सप्ताह भर बाद कुछ असहमति हुई और येक्वुआना पुरुष अचानक शिविर से यह कहते निकल गए कि वे घर लौट रहे हैं। अंतिम क्षण में वे मुझे और तादेहाह से बोले “माहल्येह!” (साथ चलो), जिसका हैमक छाया में अब भी लटका था।

बच्चे ने धीमे से केवल, “आहके” – “नहीं” – कहा और वे अपनी राह चल दिए।

साथ चलने का दबाव डालने या उसे मनाने की कोई कोशिश नहीं की गई। सबकी तरह वह भी खुद मुख्तार था। उसका निर्णय स्व-मिल्लिकयत की अभिव्यक्ति थी, और उसका नतीजा, उसकी नियति का हिस्सा। किसी ने भी स्वयं अपने लिए निर्णय लेने के उसके अधिकार को महज इसलिए चुनौती नहीं दी कि वह शारीरिक रूप से छोटा और कमजोर था। या इसलिए कि निर्णय लेने की उसकी क्षमता में अनुभव की कमी थी।

येक्वुआना लोगों में यह माना जाता है कि व्यक्ति में फैसला करने की पर्याप्त क्षमता होती है। वह कोई भी निर्णय ले सकता है जिसे लेने को वह प्रेरित हो। निर्णय लेने का

आवेग ही इस बात का प्रमाण है कि वह उपयुक्त निर्णय ले पाने की क्षमता रखता है। छोटे बच्चे बड़े-भारी निर्णय नहीं लेते। उनकी आत्मरक्षा में ज़बरदस्त रुचि रहती है। और जो मसले उनकी समझ से परे हों उनमें सही फैसला लेने के लिए, वयस्कों का मार्गदर्शन चाहते हैं। प्रारंभ से ही विकल्प बालक पर छोड़ना उसकी निर्णयशक्ति को पैना बनाता है। वह या तो वह फैसला करने का अधिकार किसी अन्य को देता है या स्वयं तय करता है। मामला कितना ज़िम्मेदारी भरा है उसके प्रमाण में सावधानी बरती जाती है। यों गलतियाँ न्यूनतम स्तर पर रह पाती हैं। इस प्रकार लिए गए निर्णय का बालक विरोध नहीं करता। अतः निर्णय सभी संबंधित लोगों के लिए सामंजस्यपूर्ण और प्रीतिकर होता है।

अपनी छोटी-सी आयु में तादेहाह जो निर्णय ले पाया, वह मुझे एक बालक के लिए बड़ी भारी कटिबद्धता का लगा। उसने अपने कबीले के साथियों के साथ न जाने और तीन नितांत विचित्र अजनबियों के साथ रहने का निर्णय तब लिया जब हम एक विशाल नदी में कुछ दूर बढ़ चुके थे। हमारे पास न तो चालक दल था, और न चप्पू ही, क्योंकि मुझे किसी वस्तु को दे बदले में चप्पू लेने की बात सुझी ही नहीं थी। और साथ निकले येक्वुआना पुरुष अपने-अपने चप्पू ले लौट चुके थे।

तादेहाह अपनी क्षमताओं को जानता था और एक रोमांचक यात्रा चाहता था। कुछ महीनों बाद हम लौटते उसके पूर्व तमाम रोमांचक अनुभव हमें हुए। पर तादेहाह उन सबको झेल पाया। हमेशा मददगार रहा और हमेशा प्रसन्नचित्त भी।

एक-दूसरे पर दबाव डालने की उनकी अनिच्छा ने मुझे चौथे अभियान में भी प्रभावित किया। इस अभियान में एक यूरोपीय व्यक्ति और मैं लौटने की इच्छा के बावजूद अंछू द्वारा रोके जा रहे थे (यहाँ शायद यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि दूसरों पर अपनी इच्छा न लादने से संबंधित यह विरोधाभास अंशतः इस तथ्य से समझा जा सकता है कि येक्वुआना लोग हमें और सनेमा कबीलों के सदस्यों को इन्सान मानते ही नहीं हैं। और अंशतः हमें इसलिए रोका जा रहा था ताकि हम उनकी चिकित्सा करते रहें। इसका सरल-सा उपाय था कि वे बाहर निकलने की यात्रा में हमारे साथ न चलें। उनके गाँव से दो जनों का अकेले निकलना संभव ही नहीं था। वे हमें खिलाते-पिलाते रहे, हमारे लिए उन्होंने झोंपड़ी बनाई और बाहर ले चलने की हमारी माँग को उन्होंने हमेशा टाला। साफ इन्कार कभी नहीं किया। अर्थात् इसके लिए उन्होंने हमारी मदद नहीं की।)

उस समय दो पुरुष, एक उसी गाँव का और दूसरा पास के गाँव का, बेहद गंभीर रूप से बीमार थे। एक को एपन्डिसाइटिस से जुड़ी परेशानियाँ थीं, और दूसरे की पीठ पर दो नासूर थे। दोनों मौत की कगार पर थे, क्योंकि कई सप्ताह और महीने बिना स्थिति में सुधार के गुजर चुके थे। हालाँकि एन्टीबायोटिक के सहारे मैं उन्हें जिंदा रख पाई थी।

इस कठिन संघर्ष के प्रारंभ में दरअसल तब जब मैं पहली बार नदी के उपरले हिस्से में एपन्डिसाइटिस से ग्रस्त नवयुवक के घर पहली बार गई थी, मैंने उसके पिता से कहा था कि उन्हें युवक को शल्य क्रिया के लिए किसी असली चिकित्सक के पास सिउडाड बोलिवार ले जाना चाहिए। मैंने समझाया था कि उसका पेट चीर कर जो हिस्सा परेशान कर रहा है उसे निकालना होगा। मैंने एपेन्डेक्टॉमी का अपना निशान भी उन्हें दिखाया था। वे सहमत थे पर उन्होंने कहा कि मासाविउ वेनेज़ुएला के उस नगर में तब जाएगा नहीं जब तक वह हिस्पानी भाषा न बोल सके। उन्होंने सीधे यह नहीं सुझाया कि मैं उसे ले जाऊँ हालाँकि उन्हें अपने इकलौते बेटे से बेहद प्यार था। वे मुझे किसी भी तरह की तकलीफ देने के बदले मासाविउ को मर जाने देते। उन्होंने समस्या मुझे बता दी थी, इससे अधिक अनुनय वे कर नहीं सकते थे।

मैंने उन्हें कहा कि मैं उनके बेटे को इलाज के लिए ले जाऊँगी, पर उन्हें अंछू से कहना होगा कि वह हमें फौरन जाने दे। इस पर बुजुर्गवार भावशून्य से बने रहे। हालाँकि मैंने सायास दोहराया कि उन्हें अंछू से बात करनी होगी, अन्यथा उनका बेटा मर ही जाएगा। उन्होंने आग्रह जैसा कुछ भी नहीं किया, हालाँकि हो सकता है कि जब मुखिया (अंछू) ने उनके पूरे परिवार को मेरे द्वारा इलाज के लिए गाँव में स्थानांतरित किया था, तब इस समस्या का उल्लेख किया हो। अंछू के साथ उनका संबंध उतना ही सहज बना रहा, मानो उनके बेटे का जीवन मुखिया के हाथों में न हो।

चार महीनों के बाद, जब मुझे आखिरकार अपने मरीजों के साथ लौटने की कठिन यात्रा करने को मुक्त किया गया, तो पिता और उसका पूरा परिवार एक अलग नौका में साथ चला ताकि वे पास की नदी में मासाविउ के ठीक होने का इंतजार कर सकें और तब उसे वापस घर ले जाएँ। अर्थात् जब वृद्धवार ने अपने बेटे के लिए किसी पर दबाव नहीं डाला, तो इसका कारण यह नहीं था कि उन्हें उसकी परवाह नहीं थी।

यही बात नाहाकादी के साथ हुई। वह मेरी खास सखी थी, बहुत ही अच्छी दोस्त

और गोद लेने के रिश्ते से अंछू की बहन भी थी। मैंने उससे कहा कि वह अंछू पर दबाव डाले कि वह हमें जाने दे, ताकि हम उसके मर रहे पति को अस्पताल ले जा सकें। वह मुखिया से अक्सर मिलती थी, सो उसके पास तमाम अवसर थे। पर वह अपनी बातचीत हल्की-फुल्की और मधुर रखती। तब भी जब वह अपने बीमार व प्यारे पति के हैमक से चंद फीट दूर ही क्यों न खड़ी हो।

वह उन महीनों में कई बार मेरे पास उस वक्त आई जब मैं उसके पति का इलाज करने गई। उसने सुझाया कि मैं चीरा लगा उसके नासूरों से मवाद निकाल दूँ। मैंने मना किया क्योंकि मैं शल्य क्रिया से अनभिज्ञ थी। आखिरकार उसने स्वयं ही यह करने की सोची, पर पति के पीठ पर पहला काँटा तक नहीं घुसेड़ पाई। उसने अपने बेटे को मुझे बुलाने भेजा। जब मैंने देखा कि वह क्या करने पर आमादा है तो मैंने खुद ही यह करने का वादा किया। क्योंकि मैं उसके साफ-सफाई रहित विधि का जोखिम नहीं ले सकी। अगर उसने “नैतिक दबाव” से मुझे सहमत करवाया हो तो यह तरीका कारगर रहा, पर उसके मेरी इच्छा पर कोई प्रत्यक्ष दबाव नहीं डाला था।

अंततः मैं दोनों पुरुषों को जीवित अस्पताल ले जा सकी। वे स्वस्थ हुए और अपने लोगों के बीच वापस लौट सके।

मेरा आग्रह कि अंछू को हमें लौटने देना चाहिए मानो “बहरे के आगे ढिंढोरा पिटना” सिद्ध हुआ। वह हमेशा बात बदल देता और पूछता कि क्या मुझे उनके द्वारा मेरे लिए बनाई गई झोंपड़ी पसंद नहीं आ रही, या वह खाना जो मुझे दिया जा रहा है। जब मैंने कई बार कहा कि एक-एक दिन का विलंब इन दोनों की जान का खतरा बढ़ा रहा है, तो जवाब में उसने आखिरकार खुद को रंगा, अपने सारे मनकों से सजे वस्त्र पहने और दोनों पुरुषों के साथ स्वयं को बंद कर लिया। वह मराका बजाते, येक्वुआना *लोगों* की शमन परंपरा के अनुसार सप्ताह भर तक मंत्रोच्चार करता रहा। जब वह कुछ समय झपकी लेता तो दूसरे लोग मंत्रोच्चार करते। उसके इलाज से दोनों रोगियों में कोई सुधार नहीं हुआ। पर इससे लोग यह सोचने से बचे कि अंछू अपने लोगों के जीवन के प्रति लापरवाह है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि वह ढोंग कर रहा था। पर वह महान येक्वुआना शमन नहीं था, हालाँकि संभव है कि वह अपना श्रेष्ठतम कर रहा हो। उसे शायद यह लगा हो कि दूरगामी दृष्टि से अपने लोगों की सेवा के लिए मुझे वहाँ रखना बेहतर होगा,

बनिस्वत दो बेहद, निराशाजनक रोगियों को बचाने के लिए मुझे जाने देना।

येक्वुआना द्वारा एक-दूसरे को फुसलाने तक की अनिच्छा किसी व्यक्ति द्वारा चुना गया विकल्प-सा नहीं लगता। यह तो एक ऐसा निषेध लगता है जो सातत्य क्रम में विकसित हुआ हो और उनकी संस्कृति द्वारा कायम रखा गया हो। वे अन्य प्रजातियों पर बाकायदा दबाव का प्रयोग करते हैं। वे कठोर अनुशासन और दण्ड द्वारा शिकारी कुत्तों को प्रशिक्षित करते हैं। उनके दण्ड में मुक्के जमाना, लकड़ियों और पत्थर से मारना, कान काटना भी शामिल हैं। परन्तु साथी मनुष्यों पर वे अपनी इच्छा नहीं लादते, बच्चों तक पर नहीं, जैसा हम देख ही चुके हैं।

पर एक अपवाद भी था, जो नियम को सिद्ध करता था। खेल-बाड़े की घटना जैसा। एक दिन मैंने एक युवा पिता को अपने साल भर के बेटे पर धीरज खोते देखा। मैं उसे देख रही थी कि वह चिल्लाया और कुछ हिंसक इशारे किए, संभव है कि उसे पीटा भी हो। शिशु ने निश्चयात्मक रूप से भयग्रस्त हो, कानफोड़ चीखें निकालीं। पिता उस भयंकर ध्वनि से मानो प्रताड़ित हो खड़ा रह गया। उसे स्पष्ट लग रहा था कि उसने प्रकृति के विरुद्ध अपराध किया है। मैं उस परिवार को अक्सर देखती थी, क्योंकि मैं ठीक उसके पड़ोस में रहती थी। पर मैंने उसे अपने पुत्र के सम्मान के प्रति आदर खोते फिर कभी नहीं देखा।

इसके बावजूद माता-पिता का दृष्टिकोण “उन्मुक्तता” का नहीं होता। वे अपने बेटों और बेटियों की स्वायत्तता का सम्मान जरूर करते हैं, यह मानते हुए कि वे सामाजिक प्राणियों-सा आचरण करेंगे। पर वे कई मानक भी स्थापित करते हैं, जिनका अनुपालन उनके बच्चों को करना पड़ता है।

येक्वुआना परिवार में भोजन का समय सभ्य आँखों को कुछ गंभीर-सा लगता है। माँ, पिता और बच्चों के सामने चटाइयाँ और कटोरे रखती है। बच्चे पास बैठते हैं और निःशब्द खाते या परोसते हैं। माँ धीमी आवाज़ में कुछ कह सकती है, जिस पर बच्चा उछल कर खड़ा होता है और पिता या माँ के लिए पानी का तुम्बा ले आता है। उसका कृत्य तब भी फुर्तीला, मौन और कुशल होता जब वह नन्हा सा बच्चा ही क्यों न हो। मुझे लगता था कि यह सब डर से किया जाता है ताकि परिवार का मुखिया नाराज़ न हो जाए। मुझे लगता था कि परिवार का मुखिया दूसरों के लिए एक अहंकारी खतरा है। पर बात



दरअसल यह नहीं है।

ध्यान से देखने पर आप पाएँगे कि सभी पक्ष पूरी तरह तनावहीन होते हैं। उस मौन में कोई धमकी नहीं होती। सच तो यह है कि इस मौन में पारस्परिक समझ और जिस प्रकार चीज़े की जाती हैं, उन्हें ठीक उसी तरह करने का विश्वास है। और जब यह साफ दिखने लगे कि तनाव नहीं है, तो वह “गंभीरता” सीधी-सरल शांति नज़र आने लगती है। वार्तालाप की नामौजूदगी उनके बीच सहजता का बोधक है, उसके अभाव का नहीं। बच्चा या बच्चे जब कुछ कहना-बताना चाहते हैं तो यह वे बेहिचक, बिना तीखेपन के कहते हैं, पर अमूमन वे ऐसा करते नहीं हैं। येक्वुआना लोगों में मौन रह खाने की रीति है ताकि प्रशांति बनी रहे। जो कुछ कोई कहता है वह इसी भाव के अनुरूप ही होता है।

पिता का आगमन स्त्री और बच्चों को चुप करता है। पिताओं और अन्य पुरुषों की दृष्टि के सम्मुख स्त्रियाँ और बच्चे अपना श्रेष्ठतम करने में गर्व महसूस करते हैं। उनकी और एक-दूसरे की अपेक्षाओं पर खरा उतरना चाहते हैं। लड़के खासतौर से स्वयं को अपने पिताओं के मानक से मापना चाहते हैं, जबकि लड़कियाँ उनकी सेवा करना चाहती हैं। किसी नन्ही को अपना पुरस्कार इसी बात में मिल जाता है कि वह पिता के लिए कसावा कंद का ताज़ा टुकड़ा लाए और पिता उसके हाथों से वह ले ले। पिता अपने आचरण, अपने आत्मसम्मान और अपनी श्रेष्ठता से अगली पीढ़ी को समाज के तौर-तरीके सिखाता है। जब पुरुष बैठक कर रहे हों और कोई बच्चा रो पड़े, तो उसकी माँ उसे कुछ दूर ले जाती है। अगर वह प्रशिक्षित होने के पहले फर्श पर पेशाब कर दे, पर समझने लायक बड़ा हो, तो सख्ती से बताया जाता है कि उसे बाहर जाना चाहिए। उसे फर्श गंदा न करने को तो कहा जाता है पर यह नहीं कहा जाता कि वह गंदा बच्चा है, या वह हमेशा ही गलत काम करता है। वह कभी यह महसूस नहीं करता कि वह खराब है। हद से हद वह यह समझ लेता है कि उसे सब प्यार करते हैं पर वह कुछ ऐसा कर रहा है जो वांछनीय नहीं है। बालक स्वयं भी वह सब करना बंद करना चाहता है जो उसके लोगों को अरुचिकर लगता हो। वह स्वाभाविक रूप से सामाजिक है।

जब भी बालक के सही आचरण में विचलन आए, या दुर्घटना स्वरूप ही कोई अपवाद हो जाए, तो न तो माँ, न ही पिता कोई ढिलाई बरतते हैं। वे उसे कतई लाड़ नहीं लड़ते। विडिडि के साथ घटी घटना में अंछू की तरह ही उनके मानक स्थिर रहते हैं।

बच्चे को चोट लगने पर वे दया दिखाते हुए पुचकारने की ध्वनियाँ नहीं निकालते। वे रुकते हैं ताकि वह खुद को संभाल ले और पास आ जाए, बशर्ते सिर्फ इसकी ही ज़रूरत हो। गंभीर चोट या बीमारी के समय वे उसका उपचार दवाएँ दे या शमन पद्धति से इलाज द्वारा करते हैं। कई बार तो कई दिनों और रातों तक मंत्रोच्चार चलता है, जिसमें वे शरीर में घुस आई दुष्टात्मा को संबोधित करते हैं। पर वे उस रोगी के प्रति संवेदना नहीं जताते, जो दूसरों को अनावश्यक रूप से परेशान किए बिना अपनी बीमारी से समझौता करने की चेष्टा कर रहा हो।

मैं जब वहाँ थी, उन्होंने एक बीमार बच्चे को मेरे पास इलाज के लिए भेजा। ऐसे मौकों पर सातत्य वाले बच्चों और उस भाव के बिना बच्चों के बीच का बड़ा-भारी अंतर खासतौर से स्पष्ट होता है। जिन येक्वुआना बच्चों से गोदी उठाए जाने वाले चरण में सही बरताव किया जाता है, जो जानते हैं कि वे प्रेम करने योग्य हैं, वे अपना दर्द भुलाने के लिए अतिरिक्त मातृत्व तब तक नहीं चाहते जब तक दर्द असहनीय न हो। इसके विपरीत हमारे सभ्य बच्चे, जिन्हें हम अनकहे ही पीड़ा का स्थाई बोझ उठाने वाला स्वीकारते हैं (जितना प्यार उन्हें मिला हो उससे अधिक पाने की कामना उनमें होती है), उन्हें हल्के से धक्के पर भी चिपकाया और चूमा और सांत्वना के शब्द कहे जाते हैं। संभव है कि इससे उनके छिले हुए घुटनों को आराम न मिले, परन्तु तनाव के उस पल में उसकी पीड़ा ज़रूर कुछ कम होती है।

संभव है कि सहानुभूति की अपेक्षा करना सीखा गया आचरण हो। मुझे इस पर कोई शक नहीं, पर जो आत्मविश्वास और दूसरों पर भरोसा (और इस मामले में एक बाहरी व्यक्ति पर भरोसा) जो मेरे पास इलाज के लिए आने वाले नन्हे दर्शाते थे, वह लाड़ की उम्मीद के अभाव से कुछ अधिक सकारात्मक भाव का संकेत था।

येक्वुआना प्रदेश की प्रारंभिक यात्रा में मैं वानानिआ गाँव में थी, जो अंछू का गाँव है। उस समय एक चार साल का लड़का मेरे पास आया। वह कुछ शर्माता-सा आया, उसका स्वागत होगा या नहीं इसको लेकर अनिश्चय के भाव के साथ। जब हमारी आँखें मिलीं, मुस्कानों का आश्वस्त करने वाला आदान-प्रदान हो गया, उसने अपना अंगूठा मुझे दिखाया। उसमें आत्मदया का भाव नहीं था, न ही वह मुझ से दया पाने की कोशिश कर रहा था। उसके चेहरे पर एक विलक्षण मुस्कान थी। उसके अंगूठे का ऊपरी हिस्सा

और नाखून का कुछ हिस्सा कटा हुआ था। बस थोड़ी सी चमड़ी उसे नीचे गिरने से रोके हुई थी। अध-जमा खून इस सब को जगह से कुछ हटने के बावजूद जमाए हुआ था। जब मैं घाव की सफाई करने लगी और कटे हिस्से को सही जगह जमाने लगी, दर्द से उसकी हिरण सी बड़ी आँखों में आँसू आ गए। उसका नन्हा सा हाथ, जो मेरी ओर बढ़ा हुआ था थर्रा उठा। पर उसने हाथ पीछे नहीं खींचा, न ही बेहद पीड़ा के पलों में धीमे से बिसुरने के अलावा कोई आवाज़ ही की। ज्यादातर समय वह तनाव मुक्त रहा और उसका चेहरा शांत रहा। जब उसके अंगूठे पर पट्टी बंध गई, मैंने उसकी ओर इशारा कर कहा “तुन्नाह, अहकी!” (पानी नहीं) उसके संगीतमय स्वर ने दोहराया “तुन्नाह अहकी” तब कहा “हवायनमाह एहताह!” (कल यहाँ) और वह चला गया। उसका समूचा आचरण मैं जो कुछ बच्चों के बरताव के बारे में सोचती थी का खण्डन करने वाला था। आपात् स्थितियों के दौरान बच्चों से कैसे निपटना चाहिए, उपचार के हिस्से के रूप में सांत्वना का कितना महत्व है, आदि की मेरी धारणाएँ टूट गईं। मैंने जो देख था उस पर मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा था।

एक बाद की यात्रा में एक सुबह मुझे एक दो साल के बच्चे ने जगाया। वह सीटी के से स्वर में “सी! सी!” पुकार रहा था। मेरे येक्वुआना नाम “शी” का यही उच्चारण वह कर रहा था। मैंने अपने हैमक से ही कानानासी को देखा। वह अकेला अपनी चोट पर पट्टी करवाने आया था। वह रोया नहीं, ना ही उसे पकड़ने या शांत करने की ज़रूरत पड़ी। वह पट्टी होने तक स्थिर रहा, पट्टी पर पानी न लगने देने की चेतावनी और अगले दिन वापस आने का निर्देश सुन, वह खेलने भाग गया।

जब अगले दिन हम टकराए तो उसकी पट्टी गीली और गंदी दोनों थी। दो साल की उम्र में उसकी समझ इतनी नहीं थी वह ऐसे निर्देशों का पालन कर सके जो दिन भर याद रखने होते हैं। परन्तु स्व व अन्य का उसका अनुभव दो सालों में पर्याप्त परिपक्व हो चुका था। जिसमें एक वर्ष में उसे हाथों-हाथ उठाए रखा गया था और दूसरे में उसने एक चुनौती भरी दुनिया में स्वावलंबी बनने का अभ्यास किया था। यही कारण था कि वह बिना सहायता, सहानुभूति, और न्यूनतम ध्यान के ही स्वयं अपना इलाज करवाने आ सका था। मुझे लगता है कि उसकी माँ ने चोट देखी होगी और सिर्फ यह कहा होगा “जीन के पास जाओ”, और बाकी सब कानानासी ने खुद-ब-खुद किया।

एक और घटना ने मेरी आँखे खोलीं, हालाँकि यह तब हुई जब मैं इलाज को लेकर येक्वुआना के लापरवाह दृष्टिकोण से कई माहों में परिचित हो गई थी। आवादाहू, अंछू का दूसरा पुत्र जो करीब नौ साल का था, मेरी झोंपड़ी में पेट का घाव लेकर पहुँचा। यह सच था कि वह घाव खतरनाक रूप से गहरा नहीं था। पर पहली नज़र में मुझे यह डर लगा कि ऐसे संवेदनशील स्थान पर वह घाव उसे नुक्सान न पहुँचाए। “नेहकुहमुहदुह?” (“क्या था?”) मैंने पूछा।

“शिमादा” (“एक तीर”), उसने विनम्रता से कहा।

“आमाहदे?” (“तुम्हारा?”), मैंने जानना चाहा।

“काटावेहु”, उसने अपने दस वर्षीय भाई का नाम कुछ इस भाव से लिया, मानो मैंने उससे किसी फूल का नाम पूछा हो।

जब मैं उस डरावने घाव की साफ-सफाई कर रही थी, काटावेहु और कुछ दूसरे बच्चे, मैं क्या कर रही हूँ, देखने आए। काटावेहु में अपराधबोध की कोई भावना नहीं थी, न आवादाहू में क्रोध की। यह तो एक दुर्घटना भर थी। उनकी माँ ने आकर पूछा कि क्या हुआ है। उससे संक्षेप में बता दिया गया कि बड़े बेटे ने दूसरे बेटे को नदी किनारे एक तीर से बींध दिया था।

“येहेदुहमुह?” (“सचमें?”), उसने धीमे से कहा।

मैंने मरहम-पट्टी समाप्त की उसके पहले वह अन्य दर्शकों के समूह के साथ अपना काम करने लौट चुकी थी। उसके बेटे की, बिना उसकी ज़रूरत के, देखभाल की जा रही थी। उसके वहाँ रुकने की ज़रूरत नहीं थी। एक ही व्यक्ति चिंतित था, वह मैं थी। जो होना था वह हो चुका था। बच्चे को सबसे अच्छी उपलब्ध देखभाल मिल रही थी। दूसरे लड़कों को भी खेलने जाने से पहले मैं पट्टी खत्म करूँ तब तक रुकने की ज़रूरत नहीं थी। आवादाहू को मानसिक सहायता नहीं चाहिए थी। जब मैं आखिरी पलास्टर चिपका चुकी, वह नदी पर उनके पास लौट गया।

उसकी माँ ने यह मान लिया कि अगर उसे माँ की ज़रूरत होती तो वह खुद उसके पास आता। वह ऐसी स्थिति के लिए उपलब्ध थी।

इन घटनाओं के उल्लेख से यह भ्रांति पैदा हो सकती है कि येक्वुआना लोगों में अनेकों दुर्घटनाएँ होती हैं। समसामयिक मध्यवर्गीय अमरीकियों की तुलना में उनमें

दुर्घटनाएँ आश्चर्यजनक रूप से कम होती हैं। यह संयोग नहीं है कि अमरीकी बच्चे जहाँ तक बाहरी सुरक्षा का सवाल है इतिहास के सबसे सावधानी से संरक्षित बच्चे हैं और इसीलिए उनसे यह अपेक्षा भी न्यूनतम रखी जाती है कि उन्हें खुदकी देखभाल करना आएगा।

इसका एक दृष्टांत है वह परिवार जिसके बारे में मैंने यह सुना था कि उनकी चिंता यह है कि घर में बना तरण ताल उनके बेटे के लिए खतरा न सिद्ध हो। उनका डर यह नहीं था कि ताल में पानी उठ कर बच्चे को डुबा देगा, बल्कि डर यह था कि बच्चा स्वयं को ताल में गिरा देगा। उन्होंने ताल के गिर्द एक बाड़ा बनवाया और उसके दरवाजे पर ताला लगा दिया।

यह संभव है कि बालक के तार्किक मस्तिष्क ने (उस हिस्से ने नहीं जो युक्ति करता हो), माता-पिता की दलीलों की मदद से बाड़ और तालबंद दरवाजे का सुझाव समझ लिया हो। उससे जो अपेक्षा की जा रही थी वह इतनी अच्छी तरह समझ गया, कि एक दिन दरवाजा खुला देख वह अंदर घुसा, ताल में गिरा और डूब गया।

जब मैंने यह कहानी सुनी, जो मुझे यह बताने के मकसद से सुनाई गई थी कि बच्चों को सतत् चौकीदारी की ज़रूरत है ताकि उन्हें खुद को नुक्सान पहुँचाने की उनकी क्षमता से बचाया जा सके; मुझे अनायास वानानिया के उस गड्ढे की याद आई, जिसके पास बच्चे बिना किसी की निगरानी के खेलते थे और कोई दुर्घटना नहीं घटी थी। बेशक इन दो अकेले मामलों का खास अर्थ नहीं होता, पर वे हमारी संस्कृतियों के अंतर का सटीक प्रतिनिधित्व अवश्य करते हैं। येक्वुआना कबीले के सदस्यों के समक्ष खतरनाक परिस्थितियों की संभावना कहीं अधिक होती है। सबसे असाधारण तो है छुरों और छुरियों की हर जगह उपस्थिति। ये सभी बेहद पैने होते हैं। और उन पर पैर रखने, उन पर गिरने, या उनसे खेलने के लिए वे हर ओर उपलब्ध होते हैं। नन्हे शिशु जो हथ्यों के बारे में जानने के लिए बहुत छोटे थे, उन्हें भी मैंने फलक से छुरी पकड़, गदराई मुट्ठी में भर इधर-उधर डुलाते देखा है। उन्होंने अपनी उँगलियाँ नहीं काटीं, न खुद को घायल ही किया। और अगर वे अपनी माँ की गोद में होते तो उसे भी घायल नहीं करते थे।

इसी तरह जलती लकड़ी से खेलने वाले शिशु ने जो उसे लिए लुढ़कता और गिर जाता, या घर की फीट भर ऊँची देहरी को पार कर अंदर या बाहर आता-जाता, दरअसल

लकड़ी के जलते हिस्से को कभी नहीं छुआ। न उसने अपने या किसी और के बाल ही जलाए। पिल्ले की तरह शिशु भी पारिवारिक चूल्हे के पास, अपने बड़ों द्वारा रोक-टोक के बिना खेला करते थे।

करीब अठारह माह से बड़े बच्चे नुकीले तीरों से अभ्यास करते। कुछ उत्साही बालक तो जागते समय हर वक्त धनुष-तीर साथ लिए डोलते थे। तीरंदाज़ी के लिए कोई तयशुदा स्थान नहीं था, न ही कोई “सुरक्षा नियम” थे। वहाँ बिताए ढ़ाई सालों में मैंने एक ही तीर का घाव देखा, जिसका ज़िक्र मैं कर चुकी हूँ।

फिर जंगल के तमाम जोखिम होते हैं। इन खतरों में पथहीन विस्तार में खो जाने की, और पैदल चलते समय नंगे पैर और शरीर पर चोट लगने की संभावना तो रहती ही है। इसके अलावा सांप, बिच्छू और जगुआर का खतरा भी था।

और वहाँ नदियाँ हैं, जिनमें तेज़ प्रवाहों की संख्या और उनका खतरा अजगरों और मगरमच्छों से भी अधिक था। जो बच्चा अपनी ताकत और क्षमता से अधिक दूरी तक धार में तैर जाता, उसके लिए किसी चट्टान से या डूबी हुई शाखाओं में से किसी एक से टकराने का जोखिम भी रहता था। नदी के परिचित हिस्से में भी बहाव की गति और गहराई, हमेशा बदलती रहती थी। यह इस बात पर निर्भर करता कि ऊपर की ओर कितनी बरसात हुई है। सो किसी एक दिन क्या खतरा है उसे जान लेना अगले दिन के लिए उपयोगी नहीं रहता था। सो नदी में नहाने और खेलने वाले बच्चों को भी ताज़ा परिस्थितियों में अपनी क्षमता का आकलन करना पड़ता था।

वहाँ कार्यकारी घटक ज़िम्मेदारी किसकी है यह निर्धारित करना लगता है। अधिकांश पाश्चात्य बच्चों के पास अपनी देखभाल करने की जो मशीनरी होती है, वह केवल आंशिक रूप से ही उपयोगी है। इसलिए, क्योंकि देखभाल की अधिकतर ज़िम्मेदारी देखभाल करने वाले वयस्कों ने अपने ऊपर ले रखी होती है। सातत्य अनावश्यक को नापसंद करती है, सो जितनी ज़िम्मेदारी कोई अन्य उठा ले उतनी मात्रा में वह आत्म-अभिभावक के भाव को हटा देती है। इसका नतीजा होता है घटी हुई प्रभावोत्पादकता। इसलिए, क्योंकि कोई भी दूसरा लगातार उतना सजग नहीं रह सकता जितना सजग व्यक्ति स्वयं अपनी परिस्थिति के प्रति हो सकता है। यह भी चेष्टा प्रकृति से बेहतर कर पाने की चेष्टा ही है। उन क्षमताओं पर अविश्वास का उदाहरण, जो बुद्धि

द्वारा नियंत्रित न होती हों। उन क्षमताओं के कार्यों पर बुद्धि का काबिज हो जाना है, उस बुद्धि का जिसमें सभी प्रासंगिक सूचनाओं पर सोच-विचार करने की क्षमता ही नहीं है।

प्रकृति ने स्वाभाविक रूप से ज़िम्मेदारियों का जो प्रभावी आवंटन किया है, उसमें हस्तक्षेप करने की हमारी प्रवृत्ति तमाम अन्य खतरे भी उत्पन्न करती है। इनमें एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है आग लगने की दुर्घटनाएँ।

अमरीका के एक मध्यपश्चिमी शहर में कुछ समय पहले एक ऐसा तूफान आया जिसने यातायात को पूरी तरह ठप्प कर दिया। सो कई दिनों तक दमकलों का आवागमन भी पूरी तरह अवरुद्ध रहा। प्रतिदिन तकरीबन चालीस आग लगने की घटनाओं से निपटने के आदी होने के कारण मुख्य अग्निशमन अधिकारी ने दूरदर्शन पर लोगों से अनुरोध किया कि वे सावधान रहें। इस आपात स्थिति में आग न लगाएँ। उन्होंने लोगों को आगाह किया कि अगर ऐसा होगा तो उन्हें स्वयं ही आग से निपटना होगा। नतीजन दुर्घटनाओं का दैनिक औसत घट कर मात्र चार रह गया तब तक जब तक सड़कें पुनः साफ न हो गईं और तब उनकी संख्या बढ़ी और सामान्य पर लौट आई।

यह कल्पना नहीं की जा सकती कि सामान्यतः जो चालीस आग लगने की घटनाएँ घटती थीं, वे जानबूझ कर प्रारंभ की जाती थीं। परन्तु साफ है कि जो लोग दुर्घटनावश ऐसा करते थे, वे जानते होंगे कि जब अग्निशमन दल इतना फुर्तीला और कुशल है उन्हें अत्यधिक सावधानी बरतने की ज़रूरत ही नहीं है। जब उन्हें ज़िम्मेदारी किसकी है में तब्दीली की सूचना मिल गई तो अवचेतन रूप से दुर्घटना की दर 90 प्रतिशत कम हो गई।

इसी प्रकार टोक्यो में, जो विश्व का सबसे बड़ा शहर है, अन्य शहरों की तुलना में आग लगने की घटनाएँ स्थाई रूप से सबसे कम होती हैं। ज़ाहिर है कि ऐसा इसलिए होता है क्योंकि कई मकान वहाँ लकड़ी और कागज़ से बने होते हैं। ऐसे में कहीं भी आग लगते ही वह भयावह तेज़ी से फैलती है। साथ ही दमकलों को भीड़भाड़ भरी तंग सड़कों में पहुँचाने में भारी कठिनाई भी होती है। वहाँ के नागरिक इन स्थितियों से परिचित हैं, अतः वे स्थिति के अनुरूप आचरण करते हैं।

ज़िम्मेदारी का यह आवंटन अपेक्षाओं का ही एक हिस्सा होता है। यही वह शक्ति है जो बाल और वयस्क आचरण को इस कदर प्रभावित करता है। अन्यथा हमें सामाजिक

प्राणी तब कैसे कहा जाता, अगर हममें वैसा आचरण करने का रुझान ही न होता, जैसे आचरण की हम मानते हैं, हमसे उम्मीद की जाती है?

सभ्य जीवन में जो भी सातत्य के सिद्धान्तों को लागू करना चाहे, उसके लिए सबसे बड़ी समस्या होगी अपनी मानसिकता बदलकर बालकों की आत्मरक्षा की क्षमता पर विश्वास करना। हम इस विचार से इतने अपरिचित हो चुके हैं कि अपने बच्चों को उनके ही साधन-समाधानों पर छोड़ने की कल्पना तक नहीं कर सकते। यह सिद्धान्त कि वे हमारी निगरानी के बिना बेहतर स्थिति में होंगे हमें इतना अकल्पनीय लगता है कि अधिकाँश लोग ऐसा कर ही नहीं सकते। हममें से अधिकतर कम से कम उनकी ओर चोरी छिपे चिंतित दृष्टि ज़रूर डालेंगे और ऐसा करते पकड़े जाने का जोखिम उठाएँगे। हमारी नज़र को अकुशल व्यवहार की अपेक्षा समझ लिया जाएगा। तो ऐसे में क्या होगा जो हमें वह भरोसा देगा कि हम शिशु को तेज़ धार वाले छुरे से खेलने दें, वह विश्वास जो येक्वुआना लोगों में अपने लंबे अनुभव के कारण रहता है? सच तो यह है कि बात छुरों से शिशुओं के खेलने के अनुभव की नहीं है, क्योंकि धातु का प्रवेश येक्वुआना लोगों के जीवन में हाल में ही हुआ है। बात यह है कि वे इस तथ्य से परिचित हैं कि शिशुओं में अपने परिवेश के सूक्ष्मतम घटकों को भाँपने की क्षमता होती है और वे उनके बीच स्वयं को सुरक्षित रख पाते हैं।

इस ज्ञान को, जो येक्वुआना और हमारे पूर्वजों का साझा ज्ञान था, बुद्धि के उपयोग द्वारा वापस लौटाने के सिवा कोई विकल्प हमारे सामने नहीं है। यह इस बात से खास भिन्न नहीं होगा कि हम खुद से कहें कि हम गिरजे जा ईश्वर में आस्था की प्रार्थना करें। अर्थात् हमें पहले यह नाटक करना पड़ेगा कि हम विश्वास करते हैं। जाहिर है कि हममें से कुछ दूसरों से बेहतर अभिनेता सिद्ध होंगे। लेकिन अगर प्रत्येक व्याकुल अभिभावक बच्चे की स्वयं की देखभाल की सहज प्रकृति पर थोड़ा और भरोसा कर ले, जितना कि वो पहले करते थे तो परिणामस्वरूप शिशु की योग्यता के अनुभव के चलते वह और अधिक विश्वास की अनुमति देगा।

पशुओं में विकसित हुई विलक्षण क्षमताओं में सबसे नई व प्रमुख क्षमता है भाषा की। विकासशील बालक की वाचिक क्षमता में नई-नई और क्रमशः जटिल होती जाने वाली अवधारणाएँ हम देख पाते हैं। इस विकास के साथ उसकी विश्वदृष्टि तथा स्व का



अन्य लोगों के साथ संबंध भी आवश्यक रूप से बदलता है। साथ ही बदलती है समय-अनुकूलित काल की अवधारणा।

परिणामस्वरूप विभिन्न आयु वर्ग के बीच एक अवधारणात्मक अंतर होता है। हाल में बच्चों के साथ बातचीत करने तथा 'तर्क' दे समझाने के फैशन के बावजूद छह वर्षीय बालक ने अपने 'विश्व' में उस बात को जिस तरह समझा, तथा एक तीस वर्षीय व्यक्ति ने अपने विश्व में उसका जो अर्थ समझा, उसमें एक ऐसा फासला होता है जिसे पाटा नहीं जा सकता।

यह गौर करना रोचक है कि येक्वुआना लोगों में वयस्कों तथा बच्चों के बीच "यहाँ रुके रहो" या "मुझे वह पकड़ाओ" जैसे बिल्कुल बुनियादी भौतिक संप्रेषण से अधिक वार्तालाप नहीं होता। बच्चों की वार्तालाप प्रणाली स्तरीकृत है, जिसमें लगभग हमउम्र बच्चों में संपूर्ण मौखिक आदान-प्रदान होता है, पर उनके बीच उम्र के अंतर के साथ यह क्रमशः घटता जाता है। लड़कों और लड़कियों में न्यूनतम बातचीत होती है क्योंकि उनके जीवन और रुचियाँ एक-दूसरे से इतने भिन्न हैं। वयस्क हो जाने पर भी दोनों लिंगों के बीच बिरले ही लंबी बातचीत होती है।

जब वयस्क बातचीत कर रहे होते हैं, तो बच्चे अमूमन सुनते हैं। वे तब आपस में बातचीत नहीं करते। किसी भी समय किसी भी उम्र के व्यक्ति को झूठे नज़रिए का उपयोग नहीं करना पड़ता जैसे हम और हमारे बच्चे आपसी बातचीत में करते हैं। येक्वुआना वयस्क जो कुछ कहना हो अपने बच्चों के सामने कहते हैं और बच्चे अपने सामर्थ्य के अनुसार उस बातचीत को समझते हैं। जब बच्चा बड़ा हो वयस्कों की श्रेणी में आता है वह उनके बोलने के तौर-तरीके, और दृष्टिकोणों को अपनी निजी गति से समझने लगता है। उन्हें ऐसे तौर-तरीकों और दृष्टिकोणों को खारिज करना सीखने की ज़रूरत नहीं पड़ती जो खुद उन्होंने बच्चों को फुसलाने के लिए गढ़े हों।

प्रत्येक आयु वर्ग के बच्चे, अपने से कुछ बड़े बच्चों के पदचिन्हों पर चलते हुए, अपने विकास स्तर के लिए उचित अवधारणात्मक संरचनाओं को समझते जाते हैं। सीखने की यह प्रक्रिया तब तक चलती है, जब तक वे मौखिक विचार के सभी स्वरूपों को न सीख जाएँ, जो उन वयस्क दृष्टिकोणों, और उनकी विषयवस्तु को अभिव्यक्त कर सकें, जिनसे बच्चे अपने शैशवकाल से ही परिचित रहे हैं।

हमारी अपनी प्रणाली में हम हमेशा यह अंदाज़ लगाने की कोशिश करते हैं कि बच्चे का मस्तिष्क कितना समझ-झेल सकेगा। इसका नतीजा होता है गलतफहमियाँ, भ्रम, निराशा, क्रोध और सामंजस्य खो देना। बच्चों को यह सिखाने का भयावह रिवाज़ कि “अच्छाई” हमेशा पुरस्कृत होगी और “बुराई” दण्डित होगी, कि वादे हमेशा निभाए जाएंगे, कि बड़े कभी झूठ नहीं बोलते, आदि से, बाद में ठीक इन्हीं विचारों पर हमें उन्हें “अवास्तविक” या “अपरिपक्व” कहना पड़ता है। खासकर तब जब वे शिशुशाला की इन कपोल-कल्पनाओं पर बड़े होने पर भी *विश्वास* करते जाएँ। यह सब उनमें ऐसा मोहभंग पैदा करता है जो उनकी परवरिश पर असर डालने के साथ उसे भी प्रभावित करेगा, जिसे वे वह संस्कृति मानते थे, जिसका अनुपालन उन्हें करना था। इससे उपयुक्त आचरण के विषय में भ्रम पैदा होता है क्योंकि कृत्यों का आधार ही छिन जाता है। साथ ही उनकी संस्कृति जो कुछ भी कहती है उसके प्रति संदेह भी उपजता है।

यहाँ भी बुद्धि ही यह “तय” करने की चेष्टा करती है कि बालक तब क्या समझ सकता है जब सातत्य का तरीका बालक को समग्र मौखिक वातावरण से, जो अविकृत और असंपादित हो, वह सब आत्मसात करने की अनुमति दे जो वह समझ सके। बाल-मस्तिष्क को तब तक उन अवधारणाओं से कोई नुक्सान पहुँचाना असंभव है, जिन्हें वह समझ नहीं सकता। खासकर तब, जब मस्तिष्क को वह सब छोड़ने की अनुमति दी जाए, जिसे वह पचा नहीं सकता। पर बच्चे को कंधे से पकड़ उस पर समझने का दबाव डालना एक दुखद दुविधा पैदा कर सकता है। यह दुविधा वह जो समझ सकता है उसमें तथा उसकी समझ में उससे रखी जा रही अपेक्षा के बीच पैदा होती है। बच्चों को आज्ञादी से सुनने देने और वे जितना समझ सकें उतना समझने देने से ऐसे सुझाव भी हट जाते हैं कि उससे कितनी उम्मीद रखी जा रही है। साथ ही विनाशकारी दुविधा भी समाप्त होती है।

येक्वुआना बालिकाएँ अपना बचपन प्रारंभ से ही अन्य लड़कियों और स्त्रियों के साथ बिताती हैं। वे घर के और खेत-बागानों के कामों में भागीदारी करती हैं। लड़के अपना ज्यादातर समय साथ-साथ भागने-दौड़ने में बिताते हैं। उनके पिता उन्हें अपने साथ चलने की अनुमति केवल तब दे सकते हैं जब चाल और क्षमता की ज़रूरत ना हो। नन्हे लड़के टिड्डों पर हज़ारों निशाने साधते हैं, या बाद में छोटी चिड़ियाओं पर। जबकि शिकार पर निकले पुरुष को दिन भर में केवल एक या दो बार निशाना साधने का मौका

मिल पाता है। सो किसी लड़के को शिकार के दौरान अपना कौशल विकसित करने का खास मौका नहीं मिलता सिवा इसके कि वह किसी शिकार में मारे गए पशु या पक्षी को खोजकर वापस ले आए।

लड़के और लड़कियाँ दोनों ही लगभग हर रोज़ तैरने जाते हैं। नौका चालन में भी वे आश्चर्यजनक रूप से छोटी आयु में दक्ष हो जाते हैं। वे अपनी भारी तराशकर बनाई गई नावों को छकाने वाली तरंगों और तेज़ बहाव में कुशलता से चला पाते हैं। और कभी-कभी तो सभी चालक छह-सात वर्ष से अधिक बड़े नहीं होते। लड़के-लड़कियाँ अक्सर साथ-साथ चप्पूओं से नौका खेते हैं। उनके साथ होने पर कोई वर्जना नहीं होती और सामान्यतः उनकी गतिविधियाँ ही यह संयोग उपलब्ध नहीं करवातीं।

साथ ही प्रत्येक येक्वुआना बालक जो आश्वासन की आवश्यकता से मुक्त होता है, खुद-ब-खुद चीज़ें कर पाता है। मछली पकड़ने का काम अक्सर दोनों लिंगों के बालक और वयस्क अकेले करते हैं। टोकरियाँ और शस्त्र बनाने व सुधारने का काम लड़के और पुरुष अकेले-अकेले करते हैं। कसावा कंदों को कसने के लिए हथौड़ों से कसनी के दाँत बनाना, बाजूबंद बुनना, हैमक तैयार करना और खाना पकाने का काम स्त्रियाँ और बालिकाएँ करती हैं। यह सब वे अक्सर एकांत में या फिर किसी शिशु के साथ करती हैं।

येक्वुआना स्वयं को कभी ऊब या एकाकीपन महसूस नहीं होने देते। उनका अधिकांश समय अपने हमउम्र लोगों के बीच गुजरता है। पुरुष अक्सर शिकार, कुछ खास तरह की मच्छीमारी, नौका बनाने के कुछ चरण और घर बनाने का काम साथ-साथ करते हैं। वे सौदा करने वाली यात्राएँ समूह में करते हैं। और जिस स्थान पर उन्हें अपना बागान लगाना हो उसे मिलजुल कर काटते और जलाते हैं। महिलाएँ और बालिकाएँ समूहों में बागानों को जाती हैं कसावा बनाने की प्रक्रियाएँ करती हैं, पानी और जलावन लाती हैं। लड़के तीर चलाने, फूंक मार कर शर चलाने, खेल-खेलने, तैरने, मछली पकड़ने, इलाके की छानबीन करने, या भोजन एकत्रित करने के काम अमूमन समूहों में करते हैं। पुरुष, स्त्रियाँ, बालिकाएँ और लड़के, या परिवार जब भी साथ मिलजुल कर काम करते हैं वे काफी खुशमिजाज़ी और उत्साह से बातचीत करते हैं। वे अक्सर हंसते हैं और नवयुवक किसी अच्छी कहानी, समाचार या मज़ाक के अंत में खुशी से समवेत

ठहाके लगाते हैं। यह दावतनुमा वातावरण रोज़मर्रा की बात है। सच तो यह है कि इस रोज़मर्रा की मौज़मस्ती के माहौल को उनकी दावतें खास बेहतर नहीं बना सकतीं।

येक्वुआना और अन्य जिन भी बच्चों को मैंने देखा है, उनमें सबसे बड़ा अंतर यह है कि येक्वुआना बच्चे आपस में न तो लड़ते हैं, न बहसबाजी करते हैं। उनमें स्पर्धा का भाव नहीं होता और उनमें नेतृत्व अनुसरण करने वालों द्वारा स्थापित किया जाता है। मैंने उनके साथ जितने साल बिताए उनमें मैंने किसी बालक को लड़ना तो छोड़, बहस तक करते नहीं देखा। नाराज़गी भरे जो शब्द मैंने सुने होंगे वे हमेशा किसी वयस्क द्वारा उस बच्चे को कहे गए थे जिसने कुछ अवांछित काम किया हो। पर यह भी बिरले ही होता था। और तब भी, जब उस पर शिकायतों की बौछार होती, वह बात चिंचित-सा सुनता और जल्दी ही गलती सुधारता। और जब गलती सुधार ली जाती तो बालक या वयस्क मन में कोई दुर्भाव नहीं रखता।

हालाँकि मैंने कई दावतों में येक्वुआना पुरुष, स्त्री या बालक को टुल्ल देखा है, मैंने कभी किसी को आपस में उलझते नहीं देखा। यह सब मुझे यह सोचने को मजबूर करता है कि वे जैसे दिखते हैं ठीक वैसे हैं भी — एक-दूसरे से सामंजस्य में और स्वयं अपनी देह-चर्म में सहज व प्रसन्न।

## 5

### अत्यावश्यक अनुभवों से वंचित होना

सभ्य जीवन पर उपयोगी विचार तब नहीं किया जा सकता जब तक हम इस तथ्य पर लगातार चिंतन न करें कि हम गोद में उठाए जाने के लगभग संपूर्ण अनुभव से और हमारे द्वारा अपेक्षित बाद के अनुभव के भी काफी भाग से वंचित कर दिए गए हैं। और हम एक व्यवस्थित पर अवचेतन तरीके से इन अपेक्षाओं के उनके अपरिवर्तनीय क्रम में पूरी होने की तलाश में रहते हैं।

हमारे सातत्य से हम जन्म से ही कट जाते हैं, हमें पालनों और बच्चागाड़ियों में, जीवन के सामान्य प्रवाह से दूर, अनुभवों की भूख में तड़पता छोड़ दिया जाता है। हमारे कुछ हिस्से शिशुवत् बने रहते हैं अतः वे बड़े बच्चों या वयस्कों के रूप में सकारात्मक योगदान नहीं कर पाते। पर हम इन अपेक्षाओं को पीछे नहीं छोड़ते, छोड़ नहीं सकते। हमारे मस्तिष्क और शरीर के विकास के बावजूद गोदी के अनुभव की आवश्यकता संतुष्टि के इंतज़ार में बनी रहती है।

हम जो सभ्यता में हैं, सातत्य के कुछ रोगों को साझा भी करते हैं। आत्म-घृणा, आत्म-संदेह हममें काफी आम हैं। इसकी मात्रा भिन्न-भिन्न ज़रूर होती है, जो इस पर निर्भर करती है कि हमारे वंशानुगत गुणों को वंचनाओं के संमिश्रण ने कब और कितना प्रभावित किया। गोदी में उठाए जाने की तलाश, साल गुज़रने और हमारे बड़े होने के

साथ कई रूप धरती है। गोदी उठाए जाने से कुशलक्षेम की जो बुनियादी स्थिति पनपती है उसका अभाव हमें विभिन्न तलाशों और प्रतिस्थापनों की दिशा में ले जाता है। ऐसे में प्रसन्नता जीवित होने की सामान्य स्थिति होने के बदले एक लक्ष्य बन जाती है। और इस लक्ष्य को पाने की चेष्टा निकट तथा दूरगामी उपायों से की जाती है।

येक्वुआना लोगों के जीवन को ध्यान में रखें, तो स्पष्ट से स्पष्टतर होता जाता है कि हम जो तमाम निरर्थक कार्य करते हैं, वे भला क्यों करते हैं।

गोद के अनुभव का अभाव स्वयं को आमतौर पर यहाँ और अब के ऊब के प्रति असहजता के भाव में अभिव्यक्त करता है। व्यक्ति स्वयं को केंद्र से खिसका पाता है, मानो कुछ कमी हो। अभाव की एक अस्पष्ट सी अनुभूति रहती है, ऐसा कुछ पाने की ललक जिसे व्यक्ति परिभाषित ही न कर सके। अक्सर यह कामना किसी चीज़ से, या बीच दूरी की किसी घटना से जुड़ जाती है। इसे शब्दों में कहें तो बात को “मैं बिल्कुल ठीक हो जाऊँ, अगर सिर्फ...” के आगे प्रस्तावित बदलाव को जोड़ कर कहना होगा। यह जोड़ी गई चीज़ कुछ भी हो सकती है, मसलन, नया सूट, नई गाड़ी, पदोन्नति, या वेतन में वृद्धि, नई तरह का काम, छुट्टी पर या स्थायी रूप से कहीं और जाने का मौका, प्यार करने के लिए एक पत्नि, या पति, या बच्चा, अगर यह उस व्यक्ति के पास पहले ही न हों तो।

जब यह इच्छित चीज़ प्राप्त हो जाती हैं, तो उस बीच की दूरी में जहाँ एक समय माँ हुआ करती थी, जल्दी ही किसी नई “अगर सिर्फ” से भर जाती है। और इस नई वस्तु और स्वयं के बीच की दूरी वह नया माप बन जाती है जो स्वयं और गायब सहीपन में हो। उस सहीपन में जो यहाँ और अब में होता है।

दूरी में एक के बाद एक उठने वाली वस्तुओं से जगी आशा व्यक्ति को पोषित करती जाती हैं। यह दूरी निर्धारित होती है, उस वस्तु की अप्राप्यता से जिसे पाने पर व्यक्ति स्वयं को सहज महसूस कर सकता है। अर्थात् स्वयं को ठीक उस संबंध में पाता है जिसमें व्यक्ति अपनी माँ के साथ उस समय था जब उसे गोद के अनुभव से वंचित किया गया।

वस्तुओं को आवश्यक दूरी पर बनाए रखने में होने वाली कठिनाई विपत्ति की दिशा में ले जा सकती है। ऐसा अक्सर नहीं होता क्योंकि ज्यादातर लोग बड़ी आसानी

से ऐसी तमाम चीजों की कल्पना कर सकते हैं जो उन्हें प्राप्त नहीं हो सकतीं, फिर चाहे उनके पास पहले से कितना ही क्यों न हो। पर कभी-कभार कल्पनाशक्ति भी उसने जो लक्ष्य रखे हों उनकी प्राप्ति की गति या संपूर्णता से पिछड़ जाती है।

कुछ वर्ष पूर्व एक प्रसिद्ध सुनहले बालों वाली अभिनेत्री एक असहनीय असंतुलन का शिकार बनी जो उसकी आशा की ज़रूरत तथा जिन वस्तुओं की वह आशा कर सकती थी, उनके बीच पैदा हो गया था। वह विश्व की सफलतम अभिनेत्री थी, विश्व की सर्वाधिक वांछित स्त्री। उसने शारीरिक और बौद्धिक उपलब्धियों वाले पुरुषों से संबंध बनाए थे, विवाह किए थे, उनको तलाक दिया था। उसकी कल्पना के मानकों से उसके पास वह सब था, जिसकी वह कामना कर सकती थी। फिर भी सब सही होने का भाव न होने से वह भ्रमित थी। वह क्षितिज पर कुछ वांछनीय को तलाश रही थी जो उसे तत्काल न मिल सके। इस तलाश में असफल रह उसने आत्महत्या कर ली।

कई अन्य लड़कियों और स्त्रियों ने, जिनके लक्ष्य इसी अभिनेत्री के समान थे, यह जानना चाहा कि आखिर वह स्त्री जिसके पास सब कुछ था, ऐसा भला कैसे कर सकी? पर अमरीकी स्वप्न जहाँ बसता है उस कोने को कोई नुकसान नहीं पहुँचा। इसलिए, क्योंकि यह प्रश्न पूछने वाली प्रत्येक स्त्री इस बात पर आश्वास्त थी कि अगर सिर्फ... अगर उसके जीवन में इतनी सारी वांछनीय वस्तुएँ होतीं, उसके पास जिसे सुख और प्रसन्नता इतने करीब लगती हो, वह प्रसन्न होने में असफल हो ही नहीं सकती थी।

इसी प्रेरणा से की गई आत्महत्याओं के उदाहरणों की कोई कमी नहीं है। पर इससे भी अधिक आम है सफल लोगों का दुस्साहसी आचरण। ऐसे लोगों का आत्मरक्षा का सहज बोध उन्हें विस्मृति की दिशा में वह अंतिम कदम उठाने से तो रोकता है, पर उनका जीवन दारूबाज़ी, नशीले द्रव्यों का सेवन, तलाक तथा विषाद से भरा होता है। अधिकतर अमीर लोग और भी अमीर बन सकते हैं, और बनना चाहते हैं। जो सत्तावान हैं वे और ताकत पाने की कामना रखते हैं, उनकी यह इच्छा आकार पाती है। वे चंद लोग जो अपनी सभी संभव कामनाओं के अंत तक, या उसके आसपास पहुँच चुके होते हैं उन्हें इस तथ्य का सामना करना पड़ता है कि लालसाएँ कभी भी संतुष्ट नहीं होतीं। उन्हें इस भाव का बुनियादी स्वरूप याद नहीं रह पाता। शिशु के रूप में माँ की गोद में होने की तीव्र इच्छा, अतः वे स्वयं को एक बिना पेंदी की खाई के कगार पर पाते हैं। वे इस सबके मकसद

पर प्रश्न उठाते हैं पर उन्हें कोई उत्तर नहीं मिलते। जबकि किसी समय उन्हें पूरा भरोसा था कि यह उत्तर पैसा, ख्याति, या उपलब्धि ही था।

सभ्य जीवन में कई मामलों में विवाह एक दोहरा अनुबंध होता है। इसकी एक शर्त कुछ इस तरह की हो सकती है “... और मैं तुम्हारी माँ बनूँगी, अगर तुम मेरी माँ बनो तो।” प्रत्येक साथी जब यह अस्पष्ट (अक्सर स्पष्ट) घोषणा करता है “मैं तुम से प्रेम करता हूँ, मैं तुम्हें चाहता हूँ, मुझे तुम्हारी ज़रूरत है”, तो वह दरअसल अपनी स्थाई रूप से मौजूद शैशव की आवश्यकताओं को ही अभिव्यक्त कर रहा होता है। उक्त घोषणा का प्रथम दो-तिहाई भाग परिपक्व स्त्री-पुरुषों के लिए उपयुक्त है, परन्तु ज़रूरत की धारणा हालाँकि हमारी संस्कृति में रूमानी अर्थ में स्वीकार्य गई, फिर भी इसका निहितार्थ एक हद तक शिशुवत् देखभाल का है। यह बचकानी तरह से बोलने (का तू छुटकी मैं को पाली करता है?) से लेकर दूसरों पर सतही से अधिक ध्यान न देने का अनकहा समझौता भी हो सकता है। अक्सर प्रमुख आवश्यकता ध्यान का केन्द्र बनने की होती है (यह उसी प्रकार के ध्यान का रूपान्तरण है जो शिशुओं के लिए उचित हो, पर बड़े बच्चों और वयस्कों के लिए नहीं)। और तब वैवाहिक साथी, मंच के केन्द्र के विभाजन पर कमोबेश सौहार्दपूर्ण सहमति तक पहुँच सकते हैं।

प्रणय निवेदन अक्सर यह जाँचने का स्थल बन जाता है कि प्रत्येक साथी की शिशुवत् आवश्यकताएँ किस हद तक पूरी हो सकेंगी। जिन लोगों की आवश्यकताएँ व्यापक होती हैं — अर्थात् जिनके प्रारंभिक जीवन में इन आवश्यकताओं की इतनी भी पूर्ति नहीं हो पाती कि वे किसी दूसरे व्यक्ति और उसकी आवश्यकताओं के साथ किसी संतोषजनक समझौते तक पहुँच सकें — जीवन साथी की उनकी तलाश अक्सर दुखद और अंतहीन बन सकती है। शैशवकाल में उनके साथ धोखा हो चुका होता है। और उनकी लालसा व्यापक और गहन होती है। फिर से धोखा खाने का भय इतना सशक्त हो सकता है कि जैसे ही साथी तलाश लेने का खतरा उभरता है वे डर से त्रस्त भाग खड़े होते हैं। इसलिए ताकि उन्हें उक्त प्रार्थी को जाँचना न पड़े। कहीं उन्हें वह असहनीय याद फिर से न दिला दी जाए कि वे उस शर्तहीन तरीके से प्रेम करने योग्य हैं ही नहीं, जिसकी उन्हें ज़रूरत है।

असंख्य पुरुषों और स्त्रियों ने स्वयं को प्रणय प्रसंग के दौरान ऐसे आचरण का



शिकार पाया है, जो किसी सुस्पष्ट कारण के बिना ही खुशी के प्रति भय दर्शाता हो। जहाँ जीवन साथी को तलाशने के भय पर काबू पाना काफी आसान हो, वहाँ भी जब सामने बढ़ अपने सुख पर दावा करने का समय आता है तब दूल्हे विवाह वेदी तक चलने में लड़खड़ाते हैं, और दुल्हनें चिंताग्रस्त हो रो पड़ती हैं। पर कई सालों-साल, अपने साथी बदलते रहते हैं, एक ऐसे रिश्ते को ढूँढ़ते रहते हैं जिसे वे नाम तक नहीं दे पाते। वे किसी भी स्त्री या पुरुष के प्रति कटिबद्ध नहीं रह पाते जो उनकी ही तरह अदना हो, जो स्वयं उनसे बड़ा या महत्त्वपूर्ण न हो।

एक स्वीकार्य साथी को तलाश पाने की कठिनाई उन सांस्कृतिक छवियों के कारण और भी पेचीदा बन जाती है, जो फिल्मों, दूरदर्शन, उपन्यासों, पत्रिकाओं तथा विज्ञापनों द्वारा प्रेम करने योग्य दर्शाए जाते हैं। दर्शकों को बौना बना देने वाली सिनेमा की छवियाँ यह भ्रम पैदा करती हैं कि उसके पात्र असें से खोए “सही” या मातृवत्-आकार के लोग हैं। इन विशालकाय जीवों के प्रति हमारे मन में एक तर्कहीन आस्था पैदा होती है। हम उन अभिनेताओं को ही परिपूर्णता के ऐसे गुण दे डालते हैं, जो हमारे दिमाग में उनसे चिपट जाते हैं। हम मानने लगते हैं कि वे कोई गलतियाँ नहीं कर सकते, जिस तरह के फैसले हम एक-दूसरे पर लेते हैं उनसे वे परे हैं। स्थिति को और भी भ्रामक यह बनाता है कि वे जिन चरित्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं वे चाहे जितने भी अवास्तविक क्यों न हो, वे ही हमारी लालसाओं के स्तर को तय करते हैं। इससे असली लोग हमें और भी असंतोषजनक लगने लगते हैं।

विज्ञापन जगत ने गोद के अनुभव से वंचित जनता की लालसाओं को भुनाना सीख लिया है। उनके विज्ञापन ऐसा वादा करने लगते हैं कि “अगर यह तुम्हारे पास होगा तो तुम स्वयं को सही महसूस करने लगोगी”। एक ठण्डे पेय का नारा है “यही असली चीज़ है।” उसका मुख्य प्रतिद्वंद्वी जुड़ाव के अभाव को भुनाते हुए कहता है, “तुम पेप्सी पीढ़ी के हो”, या “सही” दिखने वाले “पेप्सी लोगों” के चित्र प्रदर्शित करता है। एक कंपनी लालसा के अंत का सुझाव देते हुए कहती है “हीरा है सदा के लिए।” निहितार्थ यह है कि गारंटीशुदा मूल्य की वस्तु की मिल्कियत आपको वैसा ही स्थायित्व, अजेयता तथा संपूर्णता दे सकेगी। मानो कहा जा रहा हो आपसे प्रेम करने के लिए तब आपका प्रेम करने योग्य होना ज़रूरी नहीं है, अगर आपने हीरा पहना हो, एक जादूई अंगूठी जो

सभी लोगों को हमेशा ही आकर्षित करती हो।

प्रतिष्ठा देने वाले फर (पशुओं के चमड़े से बने कोट), गाड़ियाँ, अच्छा ठिकाना आदि भी वह स्वीकार्यता प्रदान करते हैं, जिसकी लालसा लोगों को हो। साथ ही वे अनिश्चय की स्थिति में वह सुरक्षा भी देते हैं जो माँ की उन बाहों के समान है जिसका अभाव हमें हमेशा खटकता रहा है। हमारी संस्कृति जिस किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए सही मानती है, उसी के “अंदर” हम होना चाहते हैं इसलिए, क्योंकि हम हमेशा स्वयं को “बाहर” महसूस करते रहे हैं। हालाँकि हम हमेशा स्वयं को यह कहने की कोशिश करते हैं कि हम “अंदर” हैं, तब भी जब हम स्वयं को यह विश्वास दिलाने का नया प्रयास कर रहे हों।

हालाँकि हममें से अधिकांश को पूरी तरह सही महसूस करने की, उस पल को जीते समय पूरी तरह उसमें होने की, स्मृति तक नहीं होती, हम अक्सर अतीत में या भविष्य में उसके भ्रम को स्थानान्तरित कर देते हैं। हम अपने बचपन के सुनहले दिनों की बात करते हैं या उन सुखद पुराने दिनों की ताकि यह भ्रम बना रहे कि सहीपन दरअसल बहुत दूर नहीं है। बचपन का वह भोलापन, जो हम मानते हैं हमें क्रूर सच्चाइयों से सुरक्षित रखता था, उसी के साथ जो कुछ हमें बताया जाता था और जो हम दरअसल घटते देखते थे, से अचरज और भ्रांति भी उत्पन्न होती थी। साथ ही एक कमी का भाव तब भी हमेशा बना रहता था जैसे अब। परन्तु तब भ्रम यह रहता था कि हम बड़े होने पर जब “सही” उम्र के लोगों में शामिल होंगे, तो वह सहीपन हमें भी हासिल हो सकेगा।

हमें यह शुबहा तक नहीं था कि सही आयु के लोग हमेशा ही हमसे उस समय तक एक कदम आगे ही रहेंगे, जब तक समय हमें यह मानने की अनुमति न दे कि वे हमसे एक या अधिक कदम पीछे हैं।

यह धारणा कि संतुष्टि सब कुछ सही होने की भावना, स्पर्धा करने और जीतने से आती है, दरअसल उसी विचार का विस्तार है जिसे फ्रॉयड ने “सिबलिंग राइवलरी” (सहोदर स्पर्धा) कहा था। फ्रॉयड को यह लगता था कि हम सबको अपने उन भाई-बहनों की ईर्ष्या और घृणा झेलनी पड़ती है, जो माँ तक हमारी एकान्तिक पहुँच को खतरा होते हैं। परन्तु फ्रॉयड के परिचितों में संभवतः कोई अवंचित लोग नहीं थे। अगर उन्हें येक्वुआना लोगों को जानने का अवसर मिला होता, तो वे पाते कि अपने आप में एक लक्ष्य

के रूप में स्पर्धा करने और उसमें जीतने के विचार से येक्वुआना पूरी तरह अनभिज्ञ हैं। अर्थात् इस भाव को मानव व्यक्तित्व का अनिवार्य हिस्सा नहीं माना जा सकता। जब किसी शिशु को माँ की गोद का आवश्यक अनुभव पूरी तरह मिले और वह स्वेच्छा से उससे दूर हो, तो वह एक नए शिशु के उस स्थान पर आगमन को सह सकता है, जिसे उसने स्वेच्छा से छोड़ा हो। जब ऐसी कोई चीज़ उससे छिनती ही नहीं जिसकी ज़रूरत बनी हुई हो तो स्पर्धा का आधार ही नहीं रह जाता।

येक्वुआना लोगों में वस्तुओं और लोगों की लालसा के कई कारण होते हैं, पर सिर्फ दूसरों पर विजय पाना इन कारणों में नहीं है। उनके तमाम खेल हैं, पर स्पर्धात्मक खेल नहीं हैं। वे कुश्ती करते हैं, पर उसके दंगल नहीं होते। पुरुषों के जोड़ों में कुश्ती की श्रृंखला होती है। तीरंदाज़ी का निरंतर अभ्यास निशाना साधने में श्रेष्ठता पाने के लिए होता है, परन्तु किसी दूसरे के साथ स्पर्धा में नहीं। शिकार भी पुरुषों के बीच स्पर्धा का मसला नहीं होता। उनके भावनात्मक जीवन को स्पर्धा की आवश्यकता ही नहीं होती अतः उनकी संस्कृति उसका प्रावधान भी नहीं करती। हमारे लिए स्पर्धा विहीन जीवन की कल्पना ही कठिन है – उतनी ही कठिन जितनी हम जैसे हैं उसी में स्वयं को सही महसूस करना।

यही बात नएपन की तलाश के बारे में भी कही जा सकती है। यह हमारी संस्कृति के वर्तमान चरण का इस कदर हिस्सा बन चुकी है कि बदलाव के प्रति हमारा स्वाभाविक विरोध ही विकृत हो गया है। लगता यह है कि बदलने की बाध्यता इतनी नियमित हो गई है, वह लगभग एकरसता या परिवर्तनशून्यता में तब्दील हो गई है।

हाल में यह विचार उभरा है कि नवीनतम तरीका श्रेष्ठतम होगा। विज्ञापन जगत ने नवीनता की होड़ का ज़िम्मा उठा लिया है। कोई विश्राम, कोई विलम्ब नहीं है। किसी भी वस्तु को अब पर्याप्त अच्छा बने रहने का मौका नहीं दिया जाता। अर्थात् कुछ भी संतोषप्रद नहीं रहने दिया जाता। हमारे बुनियादी असंतोष को नवीनतम वस्तुओं की लालसा की दिशा में मोड़ दिया गया है।

वांछनीय चीज़ों की इस सूची में वे वस्तुएँ सबसे ऊँची हैं जो श्रम बचाती हैं। श्रम बचाने के उपकरण के प्रति आकर्षण, गोद के अनुभव से वंचित होने के भाव के दो पक्षों से दोहरा होता है। जो “सही” हो उसे प्राप्त करने का पहला पक्ष, न्यूनतम श्रम से

अधिकतम कुशलक्षेम पाने के दूसरे पक्ष से पुष्ट होता है। जिस व्यक्ति का सातत्य अखंडित व संपूर्ण होता है, वहाँ शिशु जो चाहता है उसे बिना कुछ किए पाने की उसकी क्षमता, क्रमशः काम कर पाने की क्षमता के अभ्यास की बढ़ती लालसा में तब्दील होती जाती है। परन्तु जब निष्क्रिय बालक के रूप में सफलता का अनुभव न किया जाए तो यह श्रम बचाने के लिए बटन दबाने के व्यसन में तब्दील होती जाती है। इस आश्वासन के रूप में कि व्यक्ति के लिए सब कुछ किया जा रहा है, उससे कोई अपेक्षा नहीं रखी जा रही है। बटन दबाने का कृत्य भी देखभाल करने वाले को संकेत देने के ही समान है। अंतर सिर्फ इतना है कि यहाँ भरोसा यह रहता है कि व्यक्ति जो चाहता है वह इच्छा पूरी भी होगी। काम करने का आवेग, जो स्वस्थ सातत्य में सशक्त होता है, कुंद हो जाता है; वह स्वयं अपनी देखभाल के लिए तैयार न की गई ज़मीन में यह आवेग ठीक से विकसित नहीं हो पाता। अतः हममें से अधिकांश लोगों के लिए काम एक विद्वेषपूर्ण आवश्यकता बन जाता है। ऐसे में श्रम बचाने वाला उपकरण खोए आराम के वादे के साथ चमकता है। इस बीच अपनी क्षमताओं का उपयोग करने की लालसा तथा असहाय होने की बचकानी इच्छा के बीच संघर्ष का समाधान, उस चीज़ में मिलता है जिसे हम मनोरंजन (रीक्रिएशन) कहते हैं।

जो व्यक्ति अपना आवश्यक कार्य-जीवन बिना कोई आनंद पाए कागज़ों और विचारों में बिताता है, वह शारीरिक कार्य करने की अपनी अंतर्जात अपेक्षा पर ध्यान केंद्रित कर, उसे पुनः रचने (री-क्रिएशन) के नाम पर गॉल्फ जैसे खेल खेलता है। वह इस तथ्य पर ध्यान नहीं देता कि ऐसे खेल का मुख्य गुण अनुपयोगिता हैं। वह धूप में क्लब्स (बल्लों) का भारी बोझ उठाए बढ़ता है, और बीच-बीच में ध्यान केंद्रित कर निशाना साध एक गेंद को ज़मीन में खोदे एक गड्ढे में डालने की चेष्टा करता है। यह काम वह गेंद उठाकर छेद में डालने के बजाए, अकुशलता से क्लब के एक हिस्से से वार कर करता है। अगर उससे यह सब जबरन करवाया जाता, तो वह बेहद खीझता। परन्तु क्योंकि इसे मनोरंजन कहा जाता है, और इसका उद्देश्य उसके शरीर की वर्जिश के अलावा कुछ नहीं है, वह इसका आनंद ठीक उसी तरह उठा पाता है जो येक्वुआना उपयोगी काम को करने में पाते हैं।

पर अब कई ऐसे गॉल्फ खिलाड़ी हैं जिन्होंने श्रम बचाने के आवेग के चलते, इस

आनंद को भी बिगाड़ दिया है। संस्कृति के संबंधित श्रेत्र ने यह सुझाया है कि क्लबों का बोझा ढोना आरामदायक नहीं है। और हाल में यह विचार भी उभरा है कि निशाने साधने के बीच गॉल्फ कोर्स पर पैदल चलने को भी काम की ही श्रेणी में रखना चाहिए। सो अब स्वचालित गाड़ियों का उपयोग किया जाने लगा है। अब जल्दी ही यह स्थिति भी आएगी जब गॉल्फ खेलने के बाद स्वयं को फिर से रचने के लिए (रीक्रिएशन करने के लिए) लोग टेनिस खेलने लगेंगे।

गोद उठाए जाने के चरण के अनुभव से वंचित रहे लोग लगातार इस आवश्यकता को महसूस करते हैं जो उन्हें विचित्र आचरण की दिशा में ले जाता है। तूफानी झूले (रोलर कोस्टर), वतों में घूमने वाले झूले, और विशाल चकरी झूलों की पसंदगी को समझना कठिन है। जब तक इस तथ्य पर विचार न किया जाए कि बचपन में तुलनात्मक सुरक्षा की स्थिति में और दुर्घटना के खतरे से घिर अचानक स्थान बदलने के अनुभव का हमारा, नियत कोटा पूरा नहीं हो पाया होगा। किसी भी पशु का धक्का-मुक्की करने और इस सबसे डरने के प्रति आकर्षण केवल तब समझा जा सकता है, जब हम यह पता लगा लें कि यह किस आवश्यकता को पूरा करता है। शिशुओं ने जो लाखों-लाख वर्षों तक माँ की गोद में रहते हुए पेड़ों से कूदने-फाँदने, घास के मैदान पार करने, नदियों के जल में, या अन्य कुछ करने का जो अनुभव लिया था उसकी कमी बाद में आने वाले अभागे बच्चों को खलती है। उनके पास केवल मौन और स्थिर पालना होता है, या फिर गद्देदार बच्चागाड़ी की हलचल और साथ ही थोड़ा-बहुत घुटनों पर रख उछाला जाना। जो बच्चे भाग्यशाली हैं उन्हें उनके पिता हवा में उछालते हैं, और वे अपने सातत्य की ध्वनि को भी सुन पाते हैं।

इस आकर्षण का रहस्य उस सुरक्षित क्षेत्र की सीट में है, उस झूले से बंधने में, जिसके छोटे डब्बे तेजी से लम्बी पटरियों पर दौड़ते हैं, कभी अचानक नीचे, या ऊपर हवा में। जो स्थितियाँ *अन्यथा* भयावह हों, उनमें सुरक्षित होने का सुख ही तो आकर्षण का कारण है। “प्रेम सुरंग” (टनल ऑव लव) में भूत और कंकाल उछल कर निकलते हैं, हमें अचानक डराते हैं, जबकि हमें पता होता है कि हम बिल्कुल सुरक्षित हैं। यह समझ ही तो हमसे हमारी प्रवेश टिकट खरीदवाती है।

यही बात लोकप्रिय भुतहा फिल्मों पर लागू होती है, जिन्हें हम ऐसी सीटों पर बैठ

देखते हैं, जिनसे बाद में सुरक्षित उठने का भरोसा हमें होता है। अगर सिनेमा घरों में वास्तव में कोई गोरिल्ला, डायनासोर या वैम्पायर आने की संभावना रहती, तो टिकटों की कोई मांग भी न होती।

गोद के शिशु का काम ही ऐसे अनुभव प्राप्त करना है जो उसके विकास को स्वावलम्बन की दिशा में बढ़ाएँ। एक व्यस्त माँ की बाहों में उसे जो चौंकाने वाले हिंसक और डरावने अनुभव होते हैं शिशु उनमें निष्क्रिय भागीदारी करता है। ये रोज़मर्रा के अनुभव शिशु में ज़रूरी आत्मविश्वास को निर्मित करते हैं। स्व का भाव जिस वस्तु से बनता है, उसका वे आवश्यक हिस्सा होते हैं।

एक अधिक सौम्य तरीके से घोड़े की सवारी, चाहे वे लकड़ी के हों या असली, खिलौना या असली गाड़ियों की सवारी, या फिर कोई भी अन्य वस्तु पर या उसमें बैठना जो हमें कहीं ले जाती हो, गोद के अनुभव की कमी को पूरा करता है, और उसकी आवश्यकता को कम करता है। सवारी करना अक्सर एक व्यसन बन जाता है। क्योंकि जैसे ही हम घोड़े या कार की सवारी के आनंद से परिचित होते हैं, स्वयं को पैदल चलते पा निराशा का अनुभव करने लगते हैं। पर व्यसन की भूमिका पर हम बाद में विचार करेंगे।

गोदी के अनुभव से वंचित होने की अभिव्यक्ति हमारे जीवन को प्रभावित करती है और हमारे इर्दगिर्द लोगों के व्यक्तित्व को इतनी नियमितता से रंग डालती है, कि हम उन्हें मानव प्रकृति का ही हिस्सा मानने लगते हैं। इसका एक उदाहरण है “कैसेनोवा सिंड्रोम”, जो किसी पुरुष को स्त्रियों के दिल जीतने की संख्या से यह दर्शाने पर बाध्य करता है कि वह कितना प्रेम्य है। जिस प्रकार का प्रेम उसे अपनी माता से मिलना चाहिए था, ऐसा प्रेम जो उसे स्वयं के अस्तित्व व मूल्य का आश्वासन देता, वह उसे मिला नहीं होता है। अपनी प्रेम्यता के साक्ष्य एकत्रित कर वह अपने विश्वास को पुनर्स्थापित करता है। प्रत्येक स्त्री की बाहों में बिताए हरेक पल में वह थोड़ा आत्मविश्वास पाता है। परन्तु अंततः असंतोषी कैसेनोवा सहीपन की तलाश के उस मार्का से “ऊब” जाता है। तब वह स्त्रियों के प्रति एक अधिक उन्नत, अधिक परिपक्व स्थिति पर विचार करता है। अधिकर कैसेनोवाओं में यह जीवन के काफी प्रारंभ में ही घटता है; पर कुछ मामलों में इस तरह के लोग इस भ्रम को तोड़ ही नहीं पाते कि यौनिक जीतें सही स्कोरबोर्ड पर लगे बिन्दु

हैं। और जीतने की तकनीक को माँजना ही उन्हें उस पथ पर बढ़ाएगा जो उनके जीवन की कमी को चमत्कारी रूप से दूर कर देगा।

रखैल और धन-लोलुप व्यक्ति मानते हैं कि जिन स्त्रियों या पुरुषों को उन्होंने जीता हो उनका वित्तीय मूल्य ही स्वयं उनके मूल्य का वास्तविक माप है। उन्हें लगता है कि किसी धनवान व्यक्ति से विवाह उन्हें भी समृद्ध बनाएगा और यों अविवादित रूप से स्वीकार्य भी। इस जोड़-बाकी में उन्हें किसी तरह से यह आभास दिलाया गया है कि पैसा प्रेम के बराबर होता है। यह आभास उस अधिक प्रचलित भ्रम के अतिरिक्त है कि पैसा सुख के बराबर होता है। जो सांस्कृतिक प्रभाव इन भ्रांतिपूर्ण धारणाओं को कायम रखते हैं, उन्हें ढूँढ़ना कठिन नहीं है। सहीपन की कमी का भाव किसी अन्य वस्तु की उम्मीद पर भी टिक सकता है। पर संभावना यही है कि यह उम्मीद भी उतनी ही भ्रांतिपूर्ण हो।

शैशव में वंचित होने की एक अन्य अभिव्यक्ति “स्लॉब सिंड्रोम” (बेढंगेपन) में होती है। ऐसा बेढंगा व्यक्ति, लार टपकाने वाले, अस्त-व्यस्त शिशु की ही तरह महज इसलिए सबका प्रेम चाहता है क्योंकि उसका अस्तित्व है। सौम्य आचरण कर लोगों की सद्भावना का सुपात्र बनने की बात इसमें शामिल नहीं होती। वह चटकारे भरता है, ताकि उसके पास जो भी हो वह यह जानकर खुश हो कि उसे खाने में रस आ रहा है। वह अपनी उपस्थिति जहाँ भी संभव हो दर्ज करवाता है। वह सिगरेट की राख, धब्बे या कूड़ा-करकट अपने अस्तित्व के प्रमाण के रूप में छोड़ता है। ऐसा कर वह सभी-उपस्थित लोगों को चुनौती देता कि वे उसे और प्रेम पाने के उसके अधिकार को अस्वीकारें। जब वह स्वयं को अस्वीकृत होता पाता है तो वह विश्वमाता के समक्ष यह गुहार लगाता है : “देखा? मुझे कोई भी प्यार नहीं करता, क्योंकि तुमने मेरी टपकती लार को मेरी ठुड्डी से पोंछने की जहमत नहीं उठाई!” और तब वह अपनी राह चल देता है, बिना नहाए-धोए, अस्त-व्यस्त, और गलती से सबके पैरों को दबाते। उसकी उम्मीद रहती है कि विश्वमाता, जैसा किसी भी माँ को करना ही चाहिए (इसलिए क्योंकि उसका सातत्य उसे यह कहता है), उसकी पीड़ा पर तरस खा अपने शुद्ध प्रेम से उसका स्वागत करेगी। वह स्वयं की साफ-सफाई कर दरवाज़ा बंद नहीं करता क्योंकि ऐसा करना तो नाउम्मीदी को स्वीकारना ही होगा।

उपरोक्त लार-टपकाऊ बेढंगे व्यक्ति की तरह ही बलिदान भी होता है। वह भी

दोष लगाते हुए यातना भोगता है। पर वह बल यातना की उस मात्रा पर देता है, जिसकी क्षतिपूर्ति *अंततः* किसीको करनी होगी। चमकदार आँखें लिए न जाने कितने लोग चिता, कारागार और शेर के जबड़े की और विभिन्न मुद्दों के नाम पर आगे बढ़े हैं। अपना सब कुछ दे देने के कारण उन्हें लगता है कि उन्हें कम से कम अब तो उनका जायज़ स्थान मिलना ही चाहिए। इस स्थिति में फायदा यह है कि चरम बलिदान करने वाले अर्थात् अपना प्राण त्याग देने वाले, यह शिकायत करने लौटते नहीं कि उनसे छल किया गया है। सो यह भ्रम उन लोगों में सुरक्षित बरकरार रहता है, जिनकी माँ ने प्रारंभिक काल में शिशु को चोट लगने पर अत्यधिक पश्चाताप जताया हो।

एक अभिनेता व्यक्तित्व को अक्सर मंच पर होने की, या कई अनुयायियों की ज़रूरत होती है। इसलिए ताकि वह यह सिद्ध कर सके कि वही सबके ध्यान का केंद्र है। बावजूद इस अहसास के कि सच्चाई इसके ठीक उलटी ही है। अतः केंद्र में रहने की उसकी आवश्यकता बनी रहती है। ध्यान की इसी बुनियादी आवश्यकता की हताश चेष्टा, प्रदर्शनवाद या आत्ममोह का रूप भी ले सकती है। खासकर तब, जब प्रारंभिक जीवन में ध्यान आकर्षित करने के प्रयास निरर्थक रहे हों। अक्सर यह भी पाया जा सकता है कि माँ और भावी “शान दिखाने वाले” का करीबी दिशता दरअसल ऐसा रहा था, जिसमें माँ ने शिशु के बजाए अपनी ओर ध्यान केंद्रित करने की चेष्टा की थी क्योंकि उसकी बची हुई आवश्यकता अधिक तात्कालिक थी।

विवश अकादमिक, एक के बाद एक डिग्रियाँ पाने वाला, और किसी न किसी रूप में आजीवन शालाओं का निवासी अपने शाला परिसर को एक अनुकूल स्थानापन्न माता में बदल डालता है। उसकी शिक्षण संस्था उसकी तुलना में बड़ी और अधिक स्थिर होती है। वह अच्छे और बुरे व्यवहार का ऐसा पुरस्कार और दण्ड देती है, जिसका अनुमान लगाया जा सके। उसे ठण्डी व कठोर बाहरी दुनिया से बचाती है। एक वंचित बालक के लिए, बड़े होने पर भी भावनात्मक उपकरणों की कमी के चलते, बाहरी दुनिया खतरनाक होती है। वयस्क दुनिया की चुनौतियों के समक्ष स्वयं को जाँचना चाहता है, और यों अपना विकास करना चाहता है। परन्तु आश्वासनहीन व्यक्ति में ऐसा हो नहीं पाता, फिर चाहे उसकी आयु कुछ भी क्यों न हो।

शाला से शिशुवत् चिपकने वाले अकादमिक (और वह व्यवसायी जो दशकों तक



किसी निगम के घाघरे से चिपका रहे) के विपरीत है साहसिक-वीर। उसे संभवत उसके माता-पिता में से किसी एक ने यह विश्वास दिला दिया है कि स्वीकृति पाने की राह है सबसे ऊँचे पहाड़ पर चढ़ना, या मूँगफली के छिलकेनुमा नौका में अकेले समुद्री यात्रा करना। अर्थात् एक ऐसी अनूठी उपलब्धि हासिल करना जो ध्यान पाने में प्रतिस्पर्धा कर रहे शेष लोगों की हार सुनिश्चित कर दे। अन्य लोगों की तुलना में जो अधिक देर तक बल्ली पर लटका रहे, या किसी स्थान पर पहुँचने वाला प्रथम श्वेत व्यक्ति हो, या जो किसी प्रपात के दोनों छोरों पर तनी रस्सी पर चला हो, ऐसे लोगों को जो प्रशंसा मिलती है, लगता है व्यक्ति को उसकी ही लालसा है। पर यह तब तक का ही सच है, जब तक वह यह लक्ष्य हासिल न कर ले। क्योंकि अपना लक्ष्य पा लेने पर उसे यह भी पर्याप्त लगने लगता है और तब एक नई परियोजना प्रस्तावित होती जो उसे असली लगे। जो सही उत्तर हो, सहीपन का पासपोर्ट हो।

विवश यात्री की भी कुछ ऐसी ही भ्रान्ति होती है। नए स्थान में सही स्थान होने का वादा छिपा होता है, क्योंकि स्पष्ट नज़र आने वाली वास्तविकता में तो गोद में लौटने की जादूई भ्रान्ति हो ही नहीं सकती। यों काश-अगर सिर्फ... सोचने वाले के सामने सुदूर मैदानों की हरियाली, लुभावने रूप में दमकती है। उसे वे कारण तो याद नहीं आते पर वह मानता यह है कि स्थान बदलने से ही संतुष्टि और तृप्ति मिलेगी।

मानवीय सातत्य की प्रकृति के तथा अनेकों युगों के उसके अनुभवों के अनुरूप जीवन के ठीक बीचों-बीच होने की लालसा ही इस बात का प्रमाण लगती है कि वह केंद्र उपलब्ध है। यह तो उस डिज़ाइन का हिस्सा ही है कि अधूरी रह गई संतुष्टि, भविष्य में अपना स्थान ले ले: केवल इसी प्रकार ही तो यह विकास को पूर्ण करने की प्रेरणा के रूप में काम कर सकती है। यह विश्वास जो तर्क या व्यक्तिगत अनुभव से अबाधित हो, हमें फुसला कर आगे को बढ़ाता, ठीक जैसे उसे करना था, फिर चाहे वह संदर्भ से कितना भी परे क्यों न हो, समय-सारिणी के अनुसार कितना भी पिछड़ा हुआ क्यों न हो। सभ्य लोगों में जो उत्प्रेरण शक्ति कार्यरत है, उसका भारी अंश किसी न किसी तरह के काश – अगर सिर्फ... वाद के कारण होता है।

वंचित होने की ऐसी अभिव्यक्तियाँ जो अपनी यातना को दूसरों में कायम रखें, पर विचार करना शायद और दुखद है। वंचित और पीड़ित माता-पिता के हाथों मार-पीट

झेलने वाले तमाम बच्चे इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

प्रोफेसर सी. हैनरी कैम्पे जो कोलेरैडो मेडिकल सेंटर के बालचिकित्सा विभाग के अध्यक्ष हैं, ने एक हजार परिवारों पर की गई शोध में पाया कि 20 प्रतिशत महिलाओं को शिशुओं की “मातृवत् देखभाल प्रारंभ कर पाने में” कठिनाई होती है। “कई माताएँ अपने शिशुओं को खास प्यार नहीं करती”, उन्होंने कहा। उन्होंने आँकड़ों का जो दुर्भाग्यपूर्ण निहितार्थ निकाला वह यह था कि क्योंकि इतनी सारी माताएँ अपने बच्चों को प्यार कर पाने में असमर्थ हैं, अतः एक स्वाभाविक सहजबोध के रूप में प्रेम “एक मिथक” ही होगा। उनका संदेश यह था कि प्रत्येक माता से मैडोना (यीशु की माँ मरिया) होने की, अपने शिशु को सब कुछ देने, और उसकी रक्षा करने वाली होने की उम्मीद रखना भूल है। उन्होंने पुराने गुरुओं पर यह दोष लगाया कि उन्होंने ही सबके दिमागों की धुलाई कर यह विचार घुसेड़ दिया है कि माताओं को ऐसा होना चाहिए। इसके बावजूद शिशुओं की मार-पीट के संबंध में उनके आंकड़े कुछ कहते हैं। “पूरी शोध इस अकादमिक तथ्य की ओर संकेत करती है : मार-पीट सहने वाले बच्चे, पिटाई करने वाले माता-पिता बनते हैं।” और ऐसी क्रूरता पैदा करने वाली परिस्थितियों में एक यह भी थी कि बचपन से अब तक उन्हें अपने शिक्षकों, मित्रों, प्रेमियों, पति या पत्नियों से कभी भी मातृवत् देखभाल नहीं मिल सकी।

कैम्पे कहते हैं, “जिस माता को स्वयं मातृत्व भरी ममता नहीं मिली हो वह अपने शिशु की मातृवत् देखभाल करने में असमर्थ होती है, पर वह यह उम्मीद रखती है कि बच्चा उसे प्रेम दे सकेगा। वह शिशु से उसकी क्षमता से अधिक की उम्मीद करती है और उसके रोने को स्वयं के अस्वीकार के रूप में देखती है।” उन्होंने एक बुद्धिमान, शिक्षित माता को उद्धृत किया “जब वह रोता, तो इसका मतलब यह था कि वह मुझे प्यार नहीं करता, सो मैं उसे मारती थी।”

यह उम्मीद कि माँ की प्रेम पाने की तलाश उस शिशु के माध्यम से पूरी होगी, जिसे स्वयं ही प्रेम की आवश्यकता है, कई स्त्रियों की त्रासदी है। बालक जिस प्रकार की वंचना झेलता है उसे यही स्थिति परिभाषित करती है। इस स्थिति में न केवल काफी सारा आवश्यक प्रेम और ध्यान शिशु को नहीं मिल पाता बल्कि वह इसे पाने के लिए अपने से बड़े और शक्तिशाली व्यक्ति से स्पर्धा भी करता है। इससे अधिक दयनीय क्या होगा

कि जब बच्चा ममता पाने के लिए रोए और माँ उसे पलट कर इसलिए पीटे कि वह माँ की लालसा को पूरी नहीं कर रहा।

इस खेल में कोई भी पक्ष नहीं जीतता; न इसमें कोई खलनायक होता है। क्षितिज से लेकर क्षितिज तक केवल पीड़ित ही पीड़ित होते हैं।

जल चुके बच्चे अपने माता-पिता की प्रवंचना की अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होते हैं। ऐसे मामलों को सामान्यतः दुर्घटना कहा जाता है। परन्तु हेलेन एल.मार्टिन लंदन में बीमार बच्चों के अस्पताल की ज्वलन इकाई की शोधकर्ता यह नहीं पातीं। उन्होंने सात माह की अवधि में पचास मामलों का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँची कि जलने के अधिकांश मामले दरअसल “भावनात्मक समस्याओं” का नतीजा है। पाँच मामलों के अलावा शेष सभी में उन्होंने पाया कि जलने की घटना टकराव की परिस्थिति में घटी थी : या तो माँ तनावग्रस्त थी, या फिर बालक और परिवार के किसी सदस्य के बीच तनाव था, या दो परस्पर विरोधी वयस्कों में कोई टकराव हुआ था। केवल दो ही जलने के मामले ऐसे थी जिसमें बालक दुर्घटना के समय अकेला था।

पिटार्ई करने वाले माता-पिता के विपरीत जो माता-पिता बच्चों के जलने का कारण बनते हैं वे प्रत्यक्ष रूप से बालक को आहत करने की इच्छा के सामने घुटने नहीं टेकते। वे अपने बचकाने क्रोध और रक्षा करने की माता-पिता के फर्ज की भावना के बीच द्वंद्व में रहते हैं। वे अवचेतन रूप से अपनी अपेक्षाओं के अस्त्र का उपयोग कर बालक को सुझाते हैं कि वह स्वयं को जला ले। संभवतः वे इसमें सहायता खौलता साबुन का घोल ऐसी जगह छोड़ भी कर सकते हैं, जहाँ बच्चा बहुँच सके, जो एक और अतिरिक्त सुझाव होता है। ऐसी स्थिति में दुखी माँ नेक मुखौटा ओढ़े रह पाती है और साथ ही खुद को अपराधबोध से दण्डित भी करती है। यह प्रयास ही क्रोधित माता को उसी काया में उस घृणा से भरी विनाशकारी बालिका के साथ रहने देता है, जो वह स्वयं है।

बच्चों की दुर्घटना के समय अपने पति से मातृवत् देखभाल का अभाव तकरीबन आधी माताओं में स्पष्ट था। इन माताओं ने अपने पतियों को “उदासीन, तटस्थ या द्वेषपूर्ण” कहा। शोध में उसी आयु व पृष्ठभूमि वाले जिन परिवारों को नियंत्रण समूह (कंट्रोल ग्रुप) की तरह शामिल किया गया था, उनमें हेलेन मार्टिन को पचास में से केवल तीन स्त्रियाँ मिलीं जो ऐसा सोचती थीं।

प्रमाण यह भी मिला है कि अगर माता अपने पुत्र से प्रेम और ध्यान की ज़बरदस्त माँग करे, और यह माँग शिशु की प्रेम और देखभाल की माँग पर हावी हो जाए, तो बाद में यह पुत्र की समलैंगिकता का कारण भी बन सकती है। जिस माँ को बेहद स्वत्वात्मक या आवश्यकता से अधिक ध्यान देने वाली माना जाता है वह दरअसल बच्चे को अविभाजित ध्यान देने की चेष्टा नहीं कर रही होती है, बल्कि वह तो स्वयं इसकी माँग कर रही होती है। वह अक्सर एक नन्ही बालिका की भूमिका निभाती है, बचकाने संकेत देती है कि उस पर ध्यान दिया जाए, या उसके लिए अफसोस किया जाए। बालक स्वयं पर माँ के दबाव का विरोध नहीं कर पाता, और उसकी अपनी माँगें, उपेक्षित, अनुत्तरित रह जाती हैं। वह अपनी प्रेम्यता पर माँ के ध्यान को आकर्षित करने की अपनी आवश्यकता से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाता। वह इस भावना के साथ बड़ा होता है कि मुँह सुजाना, और छटपटाने वाली नन्ही की भूमिका अदा करना ही जीतने का तरीका है। वह माँ के प्रयासों के सामने स्वयं भी ठीक यही खेल करता है। और तब वयस्क के रूप में स्वयं को अपनी उपलब्ध माँ के प्रति आकर्षित पाता है, जो प्रेम और निस्वार्थ ममता का दावा करती है, पर वास्तव में अपने बढ़ते बालक और वयस्क के रूप में अपने पुत्र से जितना हो सके उतना ध्यान दोह लेती है।

इस प्रकार वो व्यक्ति यह सीखता है कि मादा नस्ल से कोई प्रेम नहीं मिल सकता, बल्कि पुरुष ही ममता देते हैं, वे पुरुषों से प्रेम करने लगते हैं। और अक्सर पाते हैं कि बेहद युवा पुरुष उन्हें आकर्षित करते हैं। उसी तरह के लड़कों के प्रति वे आकर्षित होते हैं, जैसे वे स्वयं उस वक्त थे जब उनकी माताओं ने उनसे सघन ममता की माँग की और पाई थी।

ऐसे में अक्सर यह संबंध ममत्व के लिए स्पर्धा का होता है। समलैंगिक नर “शिविर” में वयस्क मादा की नकल नहीं करता, बल्कि उस बालिका की नकल करता जिस रूप में उसकी माँ ने भूमिका अदा की थी। ऐसे लोगों में वयस्क प्रेम के परिपक्व पक्षों का अक्सर अभाव होता है और समलैंगिक जोड़ा आपस में उस तरह का रिश्ता नहीं बना पाता जैसे रिश्ता सामान्तः किसी जोड़े में समय के साथ विकसित होता है।

अपवाद अक्सर वे पुरुष होते हैं जो स्त्रियों से अन्य कारणों से दूर हो गए हों। जैसे प्रांरभिक आयु में लगातार दुष्ट स्त्रियों की कहानियाँ सुनने के कारण। ये कहानियाँ ऐसी

माताएँ की भी होती है जो अन्यथा अपने पुत्रों के प्रति ममतामय हों।

समलैंगिक स्त्रियों को पुरुषों से प्रेम पाने की संभावना इसलिए नज़र नहीं आती क्योंकि ऐसी भावनाएँ उनके क्रूर या प्रेमहीन पिताओं द्वारा अवरुद्ध कर दी जाती हैं। अगर वे ऐसी माँ की उपस्थिति में पलती-बढ़ती हैं जिसकी बेध्यानी का सशक्त घटक पुरुष से ध्यान पाने की लालसा हो, तो वे पुरुषोचित व्यवहार करती हैं। क्योंकि यही भूमिका उन्हें विजयी व्यक्ति की भूमिका लगती है।

इन संभावनाओं पर शोध इस पीड़ा को समझने और उसके उपचार में मूल्यवान सिद्ध हो सकती है।

जब अपराधवृत्ति एक रोगात्मक वैयक्तिक लक्षण हो तो उसे भी वयस्क नियमों के अनुसार चलने की अनिच्छा से जोड़ा जा सकता है। अर्थात् ऐसा व्यक्ति वयस्कों में समान व्यक्ति के रूप में शामिल किए जाने के लिए श्रम नहीं करना चाहता। एक चोर आवश्यक या इच्छित चीज़ों के लिए श्रम नहीं कर पाता। उसे लगता है कि उसे सब कुछ ऐसे हासिल हो जाए मानो वह माँ ने दिया हो, बिना कीमत चुकाए। इस तथ्य पर कि उसे अक्सर मुफ्त में कुछ छोटा-सा पाने के लिए काफी परेशानी उठानी पड़ती है, वह ध्यान नहीं देता। उसके लिए महत्वपूर्ण केवल इतना भर है कि अंततः उसे विश्वमाता से बिना कुछ चुकाए कुछ मिल जाता है।

दण्ड की या व्यक्तिगत ध्यान की आवश्यकता, जो भी अपराधी को लगे, अक्सर समाज से उसके शिशुवत् संबंध का हिस्सा होती है। उस समाज से जिससे वह मूल्यवान चीज़ें, प्रेम के प्रतीक चुराता है।

ये परिघटनाएँ सभ्य आचरण के अध्ययनकर्ताओं के लिए अपरिचित नहीं हैं। परन्तु अगर उन्हें बाधित सातत्य की अभिव्यक्तियों के रूप में देखा जाए, तो उनका अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है।

शारीरिक बीमारी, जिसे रोगाणुओं के हमले के बाद या दौरान, किसी जीव द्वारा स्वयं को पुनर्गठित करने के प्रयास के रूप में समझा जा सकता है, विविध भूमिकाएँ निभाती है। जैसे हम पहले ही देख चुके हैं ऐसी ही एक भूमिका दण्ड होती है जो अपराध बोध की असहनीय पीड़ा को “दुरुस्त” करने की होती है।

विशेष भावनात्मक आवश्यकता के समय में, सातत्य हमें बीमार और दूसरों की

देखभाल का ज़रूरतमंद बना सकता है, ताकि हमें ऐसी देखभाल मिल सके जो एक स्वस्थ वयस्क के रूप में प्राप्त करना कठिन हो। ध्यान पाने की यह आवश्यकता किसी खास व्यक्ति, या परिवार व मित्रों की मंडली, या अस्पताल व्यवस्था से जुड़ी हो सकती हैं। हालाँकि अस्पताल अवैयक्तिक लगता है पर वह रोगी को शिशु की भूमिका में रखता है। कार्मिकों की कमी और अपर्याप्ताओं के बावजूद अस्पताल रोगी को खिलाने-पिलाने और उसके लिए तमाम निर्णय लेने का काम करता है। यह स्थिति उस व्यवहार से खास भिन्न नहीं होती जो बचपन में उसे एक लापरवाह माता से मिला हो। हालाँकि इससे उसकी सभी ज़रूरतें पूरी नहीं होतीं, पर उसके करीब यही उपलब्ध होती है।

न्यू यॉर्क स्थित मोंटेफिओरे अस्पताल के लोएन सेंटर फॉर नर्सिंग एण्ड रीहेबिलिटेशन में कुछ ऐसी खोजें हुईं जो सातत्य की दृष्टि से अर्थवान हैं। 1966 में इस केंद्र ने दावा किया कि पुराने रोगियों के पुनः भर्ती होने की दर को उसने “स्वीकार” के अभिगम को अपना कर और रोगियों को अपनी समस्याओं की चर्चा करने को प्रोत्साहित कर, 80 प्रतिशत कम कर दिया है। लीडिया हॉल, जो एक पंजीकृत नर्स तथा केंद्र की निदेशक तथा संस्थापक थीं, ने कहा कि नर्सिंग देखभाल उस देखभाल के समान होती है जो माँ अपने नवजात शिशु की करती है। “हम अपने रोगियों की माँगों का तत्काल उत्तर देते हैं” उन्होंने कहा, “फिर चाहे वे कितनी ही नगण्य क्यों न लगती हों।”

दबाव में शिशुवत् भावनात्मक स्थिति में पुनर्पतन (रिवर्ट) या अवनति (रिग्रेस) की प्रवृत्ति को समझ जेनरोज़ अल्फानो, जो केंद्र की सहायक निदेशक थीं, ने कहा “कई लोग इसलिए बीमार हो जाते हैं क्योंकि वे अपने जीवन से निपटने में अक्षम होते हैं। जब वे स्वयं ही समस्या-समाधान सीख लेते हैं, उन्हें बीमार नहीं पड़ना पड़ता।”

बेशक बीमार होने से पहले अधिकांश रोगी अपनी समस्याओं से स्वयं किसी न किसी तरह जूझ भी रहे थे। परन्तु जब स्थितियाँ उनके लिए बहुत कठिन हो गईं, उनके लिए मदद ज़रूरी बन गई। जैसे अवादाहु अपने दाँत के दर्द से कराहता हुआ अपनी माता के साथ मेरे पास आया या गैंगरीन पिड़ित द्वारा वेदता के समय अपनी पत्नि से मदद लेना, उन्हें सहायता की जरूरत होती ही है। इस मातृवत् तकनीक का उपयोग करने पर केंद्र ने पाया कि रोगी ठीक भी जल्दी होते हैं सुश्री हॉल का कहना था कि कूल्हे का प्रैक्चर जो एक आम रोग है, व्यक्ति की आयु व सामान्य स्थिति के हिसाब से लगने

वाले समय से आधे समय में ठीक हो जाता है। हृदयघात के बाद रोगी सामान्यतः तीन सप्ताह तक बिस्तर पर रहते हैं, परन्तु डॉ. इरा रूबिन, जो लोएब सेंटर की हृदयरोग विशेषज्ञ हैं, के अनुसार केंद्र के रोगी दूसरे सप्ताह के बाद ही काफी ठीक हो जाते हैं।

आप एक बुजूर्ग व्यक्ति को लें, जो संपर्क हीन रहा है, उसे एक ऐसे सामाजिक वातावरण में रखें जहाँ लोग रुचि लेते हों, जहाँ वह अपने परिवार की समस्याओं पर बातचीत कर सकता हो, उसकी माँसपेशियों तेज़ी से स्वस्थ हो जाती हैं, डॉ. रूबिन का कहना था।

यादृच्छिक रूप से चयनित 250 रोगियों के अध्ययन द्वारा यह दर्शाया गया कि केंद्र के मात्र 3.6 प्रतिशत रोगियों को ही बारह माह की अवधि में फिर से दाखिल करना पड़ा, जबकि घर में सुश्रूषा पाने वालों में यह दर 18 प्रतिशत थी। इन आँकड़ों का यह निहितार्थ निकालना कठिन नहीं है कि जो देखभाल सायास मातृवत् हो वह उस भावनात्मक आवश्यकता की अधिक कुशल आपूर्ति करती है, जिसने व्यक्ति को रोगी बनाया और अस्पताल में भर्ती होने पर बाध्य किया। कमी की आपूर्ति निर्भर रहने की ताकत देती है, जिसकी ज़रूरत उसे एक वयस्क या एक बालक के रूप में सामान्य गति से आगे बढ़ने के लिए हो।

गोद के अनुभव से वंचित होने की तमाम अभिव्यक्तियों में सबसे प्रत्यक्ष है हेरोइन जैसे मादक द्रव्य की लत। संभव है कि शोध इसकी पुष्टि करे। केवल शोध से ही यह निश्चित किया जा सकता है कि प्रवंचना और लत में ठीक कैसा संबंध है। और जब शोध यह कर दे तो कई तरह के नशों — शराब, तम्बाकू, जुआ खेलना, नींद की गोलियाँ लेना या नाखून कुतरना — को मानवीय आवश्यकताओं के सातत्य की अवधारणा के प्रकाश में समझा जा सकेगा।

परन्तु आसानी के लिए हम केवल हेरोइन व्यसनी पर ही विचार करते हैं। हेरोइन ऐसा द्रव्य है जो रासायनिक व्यसन कहलाता है क्योंकि यह इसका सेवन करने वाले के शरीर में और अधिक द्रव्य की माँग पैदा करता है। साथ ही लगातार उपयोग से इसका असर कम होता जाता है। इस कारण स्थिति यह बनती है कि जितना अधिक सेवन इस द्रव्य का किया जाए उतना कम वांछित असर इसका होने लगता है। अंततः स्थिति यह बनती है कि व्यसनी इसका सेवन “खुमारी” को अनुभव करने के बदले इसकी कमी के

लक्षणों को दूर करने के लिए करने लगता है। इस संकुचित होते माँग के चक्र में आगे बने रहने के लिए कई बार नशेड़ी उसकी इतनी अधिक मात्रा ले लेते हैं कि उनकी मृत्यु हो जाती है।

वे अक्सर द्रव्य से बढ़ते रासायनिक असंतुलन से मुक्त होने की चेष्टा में जानबूझ कर आहरण (विथड्रॉअल) की यातनाएँ झेलते हैं। वे द्रव्य पर अपनी शारीरिक निर्भरता से स्वयं को बार-बार मुक्त करते हैं ताकि न केवल वे आहरण के लक्षणों से लड़ सकें, बल्कि इसलिए भी ताकि वे फिर से उस “खुमारी” को अनुभव कर सकें। अतः नशा-मुक्ति की उनकी काफी सारी पीड़ा शरीर की माँग से लड़ते हुए आहरण के कष्ट और भयानक बीमारी झेलने से जुड़ी होती है। यह सब वे इसलिए झेलते हैं ताकि वे पुनः उसी “खुमारी” को महसूस कर सकें। यह तथ्य कि फिर से सेवन प्रारंभ करने पर उन्हें इसी भयंकर चक्र से पुनः गुजरना पड़ेगा, उन्हें रोकता नहीं।

ऐसा आखिर क्यों होता है? अगर वे इस तथाकथित व्यसन से बार-बार निकल पाते हैं तो स्वयं को फिर से उसी लत में भला क्यों झोंक देते हैं? उस खुमारी या सुरूर में ऐसा क्या सम्मोहन है कि उसकी स्मृति मात्र सैकड़ों-हजारों लोगों को उसे छोड़ने, पुनः लत लगाने, मौत तक का खतरा उठाने, चोरी-चपाटी करने, वैश्यावृत्ति करने, अपना घर-परिवार और जो कुछ उनका था और जिसकी भी उन्हें परवाह थी, उस सबको खोने पर मजबूर करता है।

मेरा मानना है कि इस खुमारी के मारक आकर्षण को समझा ही नहीं गया है। शरीर की रासायनिक बनावट में द्रव्य एक पृथक माँग पैदा करता है। इससे शरीर द्रव्य के उपयोग को कायम रखने, और अधिक बढ़ाने की माँग करता है, तब तक जब तक शरीर का रासायनिक संतुलन बिगड़ कर द्रव्य के पक्ष में न हो जाए। परन्तु जब द्रव्य का सेवन रोक दिया जाता है और शरीर से उसके अवशेष भी निकल जाते हैं, रासायनिक लत भी समाप्त हो जाती है। तब केवल उसकी स्मृति मात्र बचती है, द्रव्य लेते समय जो महसूस होता था उसकी अमिट स्मृति।

इसे समझाने की कोशिश करते हुए एक चौबीस वर्षीय नशेड़ी ने यह कहा था :

मैं अपने-आप सबसे लंबे अर्से तक उस समय बिल्कुल साफ (नशा-मुक्त) रहा जब मेरे बड़े भाइयों में से एक अतिमात्रा में द्रव्य लेने से मरा था। मैं द्रव्य लेना तक नहीं



चाहता था। मुझे लगता है कि ऐसा दो या तीन सप्ताह तक रहा। मैंने सोचा मैं सच में यह कर सकूँगा — मतलब साफ रहूँगा — अपने भाई के कारण। और तब एक दिन मैं अपने एक दूसरे भाई के साथ था और मैंने एक परिचित लड़के को कोने पर खड़े देखा। वह बीमार था। और मैं अच्छा था, अच्छे कपड़े पहने था, अच्छा जीवन बिता रहा था। मैं खुश था। वह बीमार था। मैंने उससे पूछा “तुम क्या ले रहे हो? तुम्हारा नशा क्या है?” उसने कहा “दो थैलियाँ” सो मैंने उसे छह डॉलर दिए। मैं जानता था कि वह कहाँ जाएगा और क्या करेगा। मैं यह भी जानता था कि उसके मन में क्या भाव होगा।

मैंने अपने भाई को देखा। वह समझ गया कि मेरे दिमाग में क्या है, उसने अपने कंधे उचकाए, मानो कह रहा हो, “मुझे कोई परवाह नहीं।” सो मैंने लड़के को कहा “देखो, यह छह डॉलर और हैं। दो और लेते आना।” सो हम किसी होटल के बाथरूम में गए। उस लड़के ने पहल की क्योंकि वह बीमार था, तब मेरे भाई ने और तब मैंने द्रव्य लिया। मैं अपने मृत भाई के बारे में सोचता रहा जो कुछ मेरे भाई के साथ घटा था, उस कारण मैं नशा करना नहीं चाहता था। तब मैंने खुद से कहा, पर दरअसल यह ऐसा था मानो मैं उसी मृत भाई से कह रहा हूँ, “आशा है तुम बात समझोगे। तुम तो जानते ही हो कि यह सब कैसा होता है।”

उसे लगा कि उसका भाई उसकी मौत को उतनी गंभीरता से न लेने पर माफ कर देगा जितनी गंभीरता से वह उस अहसास की ज़रूरत को ले रहा था। इस अहसास को उसका भाई भी जानता था, अतः वह यह समझ सकेगा कि लत की दिशा में लौटने के अलावा कोई चारा ही नहीं है। “खुमारी” की स्मृति ने “दिमाग पर चोट की, बिल्कुल अंदर तक” जैसा कि उसने बताया था। पर उस वक्त दरअसल काम क्या कर रहा था? इसका वह संकेत मात्र दे सका। मानव मस्तिष्क का कौन-सा हिस्सा उस सबकी बलि देने की बात तय करता है, जिसकी इस एक माँग की आपूर्ति के लिए चढ़ानी पड़ती है?

एक अन्य नशेड़ी ने यह बात कुछ इस तरह रखी। उसने कहा कि अन्य लोग खुश होने के लिए तमाम तरह की वस्तुएँ तलाशते हैं : प्यार, पैसा, शक्ति, पत्नियाँ, बच्चे, सौंदर्य, रुतबा, कपड़े, अच्छे मकान व और भी अन्य चीजें। पर एक नशेड़ी केवल एक ही चीज़ चाहता है, नशे द्वारा उसकी सभी चाहतें तत्काल संतुष्ट हो सकती हैं।

इस अहसास, यह खुमारी, जिसकी वे बात कर रहे हैं, अमूमन एक ऐसा विचित्र

मनोवेग माना जाता है जो किसी भी सामान्य व्यक्ति के अनुभव के समान न हो। वह किसी भी स्वाभाविक स्थिति के समान नहीं होता, मानव व्यक्तित्व की संरचना से उसका कोई समझ आ पाने वाला संबंध भी नहीं होता। अमूमन कहा यह जाता है कि इस आवेग की गिरफ्त में फंसे लोग कमज़ोर, अपरिपक्व तथा गैर-ज़िम्मेदार होते हैं। परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि उस द्रव्य का सशक्त आकर्षण भला क्या है, कि वह सभ्य जगत के तमाम अन्य आकर्षणों पर हावी हो जाए। ऐसे आकर्षणों पर जो किसी कमज़ोर इंसान को लुभा सकते हैं। बात को हल्के से कहें, तो एक हेरोइन व्यसनी का जीवन आसान नहीं है, और उसे एक कमज़ोर इंसान कह खारिज करना पर्याप्त नहीं है। यह साफ-साफ समझना ज़रूरी है कि एक अस्थायी रूप से “साफ” व्यक्ति जिसमें फिर से व्यसनी बनने की प्रवृत्ति मौजूद हो, तथा जिस व्यक्ति ने कभी द्रव्यों का सेवन किया ही न हो, में क्या अंतर है।

एक नशेबाज़ किशोरी से जब यह पूछा गया कि क्या उसने कभी किसी “सामान्य” (स्ववैयर) — यानी मादक द्रव्य न लेने वाली — लड़की को देखा है। उसने प्रश्नकर्ता को टोकते हुए कहा “और उससे जलन महसूस की है, हाँ। हर दिन। क्योंकि उसे वह सब नहीं पता है जो मैं जानती हूँ। मैं फिर से वैसी सीधी-सादी नहीं बन सकती। एक समय था, जब मैं भी ठीक वैसी ही थी। पर जब मैंने पहली खुराक ली उसने सब कुछ ध्वस्त कर दिया — क्योंकि तब मैं जान गई। पर यह किशोरी भी उस अति महत्वपूर्ण अहसास को स्पष्ट करने में असफल रही, उसको परिभाषित नहीं कर पाई। “मैं नशे में धुत्त होने को जानती थी। उस खुमारी में झूमना जानती थी। जब मैंने अपनी पहली लत को छोड़ा, जो छोड़ी गई लतों में सबसे खराब लत थी, मैंने उसे स्वेच्छा से लतियाया था — फिर भी मैं नशे पर लौटी।”

यह लड़की इतनी कमज़ोर नहीं थी कि वह मादक द्रव्य का सेवन बंद करने के दुसाध्य काम को बिना मेथाडोन जैसे मादक द्रव्यों की मदद ले छोड़ न सके। न ही वह कारागार में या अस्पताल में थी, जहाँ द्रव्य की अनुपलब्धता, पल-पल क्षीण होती उसकी इच्छाशक्ति पर दबाव को कम करे। वह जो नहीं कर पाई वह था, उसे भूलना जो उसने जान लिया था। वह अपने जीवन के हर दिन उस सीधी-सादी लड़की से इसलिए जलती रही क्योंकि वह लड़की यह नहीं जानती थी कि नशे में धुत्त होना कैसा लगता है।

साक्ष्यों के चलते मुझे लगता है कि यह मान लेना भी भारी नादानी होगी कि हम जो उस भावना को नहीं जानते जिसे वह जानती है, अगर जानते तो उससे भिन्न आचरण कर पाते। ठीक इस तरह के व्यसन के ऐसे असंख्य मामले हैं जिनमें एक “सामान्य” व्यक्ति को अस्पताल में किसी भयानक पीड़ादायक रोग में मॉर्फीन दिया गया। और बाद में उसे इसकी लत लगी। वह एक ऐसे व्यसनी का अपराधिक जीवन जीने पर बाध्य हुआ जो बिना किसी चिकित्सकीय मदद के इस लत को पालता रहा। द्रव्य के इस रहस्यमय आकर्षण को काटने की क्षमता घरों और परिवारों के मूल्य तक में नहीं है। नतीजतन जो विनाश होता है वह अनेकों दस्तावेजों में दर्ज है।

जिन मनोचिकित्सकों ने लम्बे समय तक नशेड़ियों का अध्ययन किया है, उनका कहना है कि अधिकांश नशेड़ी आत्ममोहग्रस्त होते हैं। और हेरोइन के प्रति उनकी आसक्ति, स्वयं के प्रति एक गहन भावनात्मक आसक्ति की सतही अभिव्यक्ति है। वे अपने शिशुवत् रुझानों को एक और तरीके से दर्शाते हैं। वे हेरोइन की खोज में गहरी वयस्क चतुराई और दृढ़ता का प्रदर्शन करते हैं। पर जब उन्हें उनका नशा मिल जाता है तो उनके ये सारे गुण गायब हो जाते हैं। वे गिरफ्तारी से बचने में कुख्यात रूप से अनगढ़ होते हैं — छुपने के लिए वे ऐसे स्थान काम में लेते हैं जो बचकाने रूप से जाहिर हों। वे अनावश्यक जोखिम उठाते हैं, और पकड़े जाने का दोष किसी दूसरे ही व्यक्ति या वस्तु पर मढ़ते हैं।

किसी व्यसनी की सबसे प्रमुख भावनात्मक विशेषता अपने जीवन की सारी जिम्मेदारी त्याग देने की बाध्यता कही जाती है। एक मनोचिकित्सक ने बताया कि उसके एक नशेड़ी रोगी ने जब किसी दूसरे रोगी के कृत्रिम फेंफड़ों को देखा, तो वह गुस्से से पगला गई और खुदके लिए भी ऐसे ही फेंफड़े की माँग करने लगी।

लगता यह है कि एक बेहद बुनियादी तरीके से हेरोइन जो अहसास देता है वह अहसास गोद के बच्चे के अहसास के समान होता है। किसी अस्पष्ट-सी वस्तु की लम्बी दिशाहीन तलाश तब समाप्त होती है, जब हेरोइन का सेवन करने वाला उस अर्से से सोए हुए अहसास को अनुभव करता है। जब उसे एक बार यह पता चल जाता कि वह अहसास कैसे पाया जा सकता है, वह हम बाकी लोगों की तरह उसको खोजने से स्वयं को रोक नहीं सकता। शायद यही उसी नशेड़ी का तात्पर्य था जब उसने कहा था “.... जब मैंने

पहली खुराक ली, उसने सब कुछ ध्वस्त कर दिया — क्योंकि तब मैं जान गई।” यह “सब कुछ” जिसका वह जिक्र कर रही है, दरअसल उसी अहसास को तलाशने का लम्बा रास्ता है, वह अंधी, अप्रत्यक्ष तलाश है, जो कभी मंज़िल तक पहुँचाती ही नहीं है। उसकी खोज में हम अपनी ज़िंदगी इसी प्रकार बिताते हैं। जो सीधा-सादा है उसमें लक्ष्य की तात्कालिक जागरूकता नहीं होती। अतः वह काफी शांति से, भ्रमों की भूल-भुलैया की दिशा में बढ़ता है, जो उसे सही दिशा में ले जाती-सी महसूस होती है। इस राह में उसे सापेक्ष तरीके से छोटी-मोटी संतुष्टियाँ भी मिलती हैं। परन्तु नशेबाज़ को पता है कि वह सब कुछ कहाँ है, एक ही जगह उसे कहाँ पाया जा सकता है, ठीक उसी तरह जैसे शिशु को माँ की बाहों में इच्छित सब कुछ मिल जाता है। अतः वह वहाँ लौटने से खुद को रोक ही नहीं पाता। वह अपराधबोध से ग्रस्त, आखेटित, अस्तव्यस्त और बीमार हो वहीं लौटना चाहता है जो दरअसल अनुभव का उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। नशेबाज़ की ज़िंदगी के इर्दगिर्द मंडराती भयावहता, या मृत्यु तक का खतरा, उसे इस बुनियादी आवश्यकता से रोक नहीं पाता। नशेड़ी का व्यक्तित्व अब तक प्राप्त परिपक्वता के सभी आभासों को त्याग शिशु के स्तर पर उतर आता है, जहाँ सातत्य अबाधित था।

अगर व्यसनी बचे रहें तो कुछ सालों बाद द्रव्य का सेवन बंद कर देते हैं। इसलिए क्योंकि वे उसके असर में पर्याप्त घंटे बिता, बचपन में रह गई गोदी के अनुभव की कमी को पूरा कर लेते हैं। वे तब अगले भावनात्मक चरण में बढ़ने को तैयार हो जाते हैं। उसी तरह, जैसे एक येक्वुआना शिशु एक वर्ष की आयु के पहले तैयार हो जाता है। अन्यथा, सालों तक किसी लत की गुलामी के बाद उसे स्वतःस्फूर्त तरीके से छोड़ने का कोई स्पष्टीकरण हो ही नहीं सकता। सच तो यह है कि मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले बुजुर्ग नशेबाज़ हैं ही नहीं, और ऐसा इसलिए नहीं है कि वे सब मर चुके हैं।

यह कयास लगाने की चेष्टा बेमानी है कि छह से आठ माह लंबे गोदी के चरण की अवधि के कौनसे भाग से कोई व्यक्ति वंचित रहा होगा, जिसे पुनः रचकर वह व्यक्ति रोग मुक्त हो अगले भावनात्मक चरण की ओर बढ़ सकेगा। संभव है कि शोध यह दर्शा सके कि इस पुस्तक के परिचय में जिस प्रकार के उपचार की चर्चा की गई है, वह मादक द्रव्यों का स्थान ले सकता है या नहीं। अगर यह वास्तव में सिद्ध होता है, तो फिर व्यसनी बीमार इसलिए प्रतीत होता है क्योंकि उसमें वह रोग, जिसे हम सब भी साझा करते हैं,

उभर कर सतह पर आ गया होता है। उसकी प्रवंचना ने संतुष्टि का सामना किया होता है। अलबत्ता यह तुष्टि मूल तुष्टि की एवज़ में एक घातक व खतरनाक तुष्टि है। अतः व्यसनग्रस्त लोगों को संभवतः उपचार की तत्काल आवश्यकता होती है। पर संभव है कि किसी दिन हम यह भी देख सकें कि उनमें तथा हममें से अधिकांश लोगों में, एकमात्र अंतर यही है।

मैंने एक इतवार की शाम टेलिविजन में एक कार्यक्रम देखा जिसमें नैतिकता पर गर्मागर्म बहस हुई। चर्चा में एक पादरी, एक नास्तिक मानवतावादी, और लंबे बालों वाला एक नवयुवक था। उस किस्म का नवयुवक जो समाज को सुधारने के प्रयासों में अक्वल प्राथमिकता चरस को वैध बनाने को दे। एक साध्वी (नन) और दो लेखक भी थे जिनके लोगों के आचरण के विषय में अपने-अपने विचार थे। मुझे यह सूझा कि उनकी असहमतियों और अपने पक्ष में दिए गए भावनात्मक निवेशों के बावजूद, उनमें अंतर से कहीं अधिक साम्य था। वे सभी किसी न किसी सशक्त विचारधारा के प्रवर्तक थे। अपने-अपने तरीके से आदर्शवादी थे। कुछ अधिक निंदा-आलोचना, अधिक अनुशासन चाहते थे, तो कुछ अधिक आज़ादी की पैरवी कर रहे थे। सभी बेहतर मानवीय परिस्थितियाँ चाहते थे। सभी कुछ तलाश रहे थे, सभी अपनी तरह से काश अगर कहने वाले लोग थे। पर काश अगर के बाद उनके विचारों में भारी अंतर था।

ऐसा लगता है कि जिसे हम नैतिक समझ कहते हैं वह विविध रूपों में सातत्य की ही समझ है। सबमें व्यवस्था की ललक थी, ऐसी व्यवस्था की जो मानव-पशु की आवश्यकताओं को संतुष्ट करे। जो भारी महसूस होने के बजाए आसानी से अपनाई जा सकें, और जो कुशलक्षेम के हितों के चयन में कुछ विकल्पों की अनुमति दे। “परिवर्तन” या “प्रगति कर चुके” समाज के लोग उस स्थाई संतुष्टि तक पहुँचने के उपाय सोच रहे थे, जिस तक सही सातत्य वाले लोग लम्बे सामाजिक क्रमविकास द्वारा पहुँचते हैं।

परन्तु लगता यह है कि गलत होने का जो अहसास हममें इतना आम है, उसमें दो पृथक घटक योगदान करते हैं। इनमें पहला तो है व्यक्ति में मौजूद सातत्य का भाव, जो उसे यह जाँचने देता है कि उसकी अपेक्षाओं के अनुरूप क्या है। दूसरा एक और भी आदिम भाव है।

सभी मिथकों में एक पूर्वमान्यता समानरूप से विद्यमान होती है, कि एक समय प्रशांति थी, और भविष्य में भी वह फिर से हमारी हो सकती है। इस सार्विक विश्वास से हम इस कदर प्रभावित हैं कि हम प्रशांति को खो चुके हैं कि यह स्पष्टीकरण अपर्याप्त लगता है कि ऐसा प्रारंभिक आयु में ही उचित बरताव तथा परिस्थितियों के सातत्य में अपना स्थान गंवाने के कारण हुआ होगा। येक्वुआना जैसे लोग जो इतने तनावहीन और प्रसन्नचित्त हैं, जो अपेक्षित अनुभवों से वंचित नहीं हुए हैं, उनका भी एक मिथक है जिसमें अनुग्रह से पतन का विचार शामिल है और यह धारणा भी कि वे उस खो चुकी स्थिति के बाहर रहते हैं। यह मिथक भी कर्मकाण्ड व रीति-रिवाजों के माध्यम से तथा मृत्यु के बाद पुनः उस परमानंद की स्थिति में लौटने की आशा प्रस्तुत करता है। इस मिथक की बारीकियों का वर्णन करना मूल बिन्दु से हटना होगा। जो बात महत्त्वपूर्ण है वह है बुनियादी ढाँचा, जो अंतर-सांस्कृतिक नृशास्त्र ने पाया है, जो धार्मिक मिथकों में सर्वव्याप्त है। ऐसा लगता अगर हम मानव हैं तो हमें कुछ स्पष्टीकरणों व वादों की आवश्यकता पड़ती ही है, ताकि हम अपनी आंतरिक लालसाओं को संतुष्ट कर सकें।

लगता यह है कि सैकड़ों वर्षों से, जब तक हमारे पूर्वजों में नश्वरता तथा जीवन का उद्देश्य जैसे उलझाने वाले मसलों पर चिंतन करने की बौद्धिक क्षमता विकसित नहीं हुई थी, हम सचमें ही उस एकमात्र परमानंद की स्थिति में जीते थे : पूरी तरह वर्तमान में। प्रत्येक अन्य पशु की ही तरह चिंता की अक्षमता का आशीर्वाद हमें भी प्राप्त था। पशुवत् जीवन जीते समय भी कई तरह की असुविधाएँ थीं, जैसे — भूख, चोट-घाव, भय व प्रवंचनाएँ। परन्तु ईश्वर के अनुग्रह से गिरने का जो वर्णन है, वह गलत दिशा में किया गया चयन बताया जाता है। और ऐसा कर पाना उन जीवों के लिए असंभव है जिनके पास किसी विकल्प को चुनने के लिए मस्तिष्क ही न हो। चयन की क्षमता के आगमन के बाद ही पतन संभव होता है। और विकल्प होने पर ही निष्कपटता का आनंद (गलत चयन की क्षमता ही न होना) लुप्त होता है। हमारी इस स्वाभाविक निश्चलता को गलत चयन नहीं, बल्कि चयन करने की क्षमता ही खत्म करती है। यह कल्पना कर पाना कठिन नहीं है कि युग-युगांतरों तक की निश्चलता ने हमारी पुरानी अपेक्षाओं पर कुछ ऐसी छाप छोड़ी है कि महसूस यह होता है कि जो प्रशांति निश्चलता के साथ आती है, उसे किसी तरह पाया जा सकता है। हमने गर्भ में उसका सुख भोगा था पर तब

उसे खो दिया, शैशवास्था में ही, सोचना प्रारंभ करने के साथ। वह प्रशांति हमें इतनी करीब, फिर भी इतनी दूर लगती है, कि हम उसे लगभग याद कर सकते हैं। बोध के क्षणों में या यौन आनन्दातिरेक में ऐसा लगता है मानों वह हमारे पास ही है, पकड़ी जा सकती है, यथार्थ है... जब तक कि अतीत तथा भविष्य की स्मृतियाँ और अटकलों की जागरूकता पुनः वर्तमान के उस पवित्र भाव को, उस सरल व परिशुद्ध अस्तित्व के भाव को, विकृत नहीं कर देती।

इस अमिश्रित अस्तित्व के भाव की प्राचीन तलाश, वस्तुओं के “ऐसेपन” (सचनैस) का यह भाव, सभी वस्तुओं का विकल्पों तथा सापेक्षता से मुक्त होने का भाव, लोगों ने अनुशासनों तथा कर्मकाण्डों द्वारा तलाशा और पाया भी है ताकि वे सोचने की इस वृत्ति को उलट सकें। तमाम ऐसे उपाय तलाशे गए हैं जिनसे मानव के दौड़ते विचार थम जाएँ, वह शांति पाए, ताकि वह सोचने के बदले सिर्फ हो। जागृति को अनेक तरीकों से प्रशिक्षित किया गया है ताकि वह शून्य पर या फिर किसी वस्तु या शब्द पर मंत्रोच्चार या व्यायाम पर जा टिके। मस्तिष्क की छटपटाहट भरी भागदौड़ से मन को हटाने के लिए असुविधा और पीड़ा का उपयोग किया गया है, ताकि वह वर्तमान पर उतर आए, और अटकलों की ज़िम्मेदारी से मुक्त हो सके।

न सोचने की इस प्रक्रिया के लिए अक्सर ध्यान शब्द का उपयोग किया जाता है। प्रशांति के स्तर को ऊपर उठाने के प्रयत्नशील कई अनुशासनों के केंद्र में यही होता। एक आम तकनीक है किसी मंत्र, शब्द या वाक्यांश को दोहराना ताकि संदर्भगत विचार मिटाए जा सकें, क्योंकि मस्तिष्क ठीक ऐसा ही करता है। जैसे ही विचारों का यह क्रम धीमा होता है और रुक जाता है व्यक्ति की दैहिक स्थिति बदलती है, कुछ इस प्रकार कि वह शिशु के समान हो जाती है। उसका श्वसन छिछला हो जाता है और हालिया प्रयोगों ने दिखाया है कि ऐसी मनोतरंगे उत्पन्न होती हैं जो न तो जगे वयस्क के समान होती हैं न सोते हुए वयस्क के समान।

जो लोग नियमित रूप से ध्यान करते हैं, उनकी प्रशांति में इज़ाफा होता है। इसे कई बार आध्यात्मिकता कहा जाता है, जो बाकी समय भी उन्हें स्थिरता प्रदान करती है। उस समय भी जब वे विचारों को अबाधित रूप से प्रकट होने देते हैं। सभ्य, गोद के अनुभव से वंचित व्यक्ति में ध्यान शैशव के अभाव को पूरा करता है, जो उसे प्रशांति

दे सकता था। इसलिए, क्योंकि ध्यान उसे ऐसी स्थिति में ले जाता है जो संज्ञा हरने वाले द्रव्यों से प्राप्त होती है। यों अगर हमारी पाश्चात्य सभ्यता के सबसे अधिक वंचित लोग ध्यान करें, तो उन्हें सालभर की आयु के पूर्ण सातत्य वाले शिशु की सी केंद्रितता पाने में काफी समय लगाना पड़ेगा। अन्य संस्कृतियों के लोग जिनके शैशव के अनुभवों में गोदी उठाए जाना शामिल है, उनके निकट पहुँच पाने के पहले उन्हें प्रशांति की चूकी गई मात्रा प्राप्त करनी होगी।

पूरब के लोगों में, जो सामान्यतः औसत पाश्चात्य लोगों की तुलना में कम वंचित हैं, उसी अनुपात में अधिक प्रशांति होती है। अतः अगर वे अपनी आध्यात्मिक विधाओं में से किसी भी एक को चुन लेते हैं — जैसे जेन, योग, अनुभवातीत ध्यान (ट्रांसिन्डेंटल मेडिटेशन), या कोई और विद्या — उन्हें कम दूरी तय करनी पड़ती है। मानव प्रजाति द्वारा पशुसम निश्छलता खोने के कारण प्रशांति में जो कमी आई, उसे पुनः पाने की दिशा में वे जल्दी ही बढ़ने लगते हैं। पहले सबसे शिशुवत् आवश्यकताएँ आती हैं। परन्तु समय और लगन से वे शांति के एक से दूसरे स्तर तक तब तक बढ़ते जाते हैं, जब तक वे एक सरल, निर्विकार स्थिति तक न पहुँच जाएँ जो उन्हें उन चिंताओं और सरोकारों से प्रतिरक्षित न कर दे, ऐसे सरोकारों से रक्षा करे जो हम शेष लोगों को परेशान करती हैं। प्रबुद्ध लोग, मनीषी, या गुरु, ऐसे स्त्री-पुरुष होते हैं जो अपनी चिंतन प्रक्रिया की तानाशाही से मुक्त होते हैं। वे अपने इर्दगिर्द स्थित वस्तुओं व घटनाओं को वह सापेक्ष महत्त्व नहीं देते जो हम देते हैं।

जिस समय मैंने उन्हें जाना, सनेमा इन्डियनों का बड़ा प्रतिशत, पड़ौसी येक्वुआना लोगों की तुलना में अधिक सक्रियता से, इस अतिरिक्त प्रशांति या आध्यात्मिकता को अर्जित करने में जुड़ा था। उनके उपायों में यदा-कदा मतिभ्रम पैदा करने वाले द्रव्यों का सेवन भी शामिल था, पर वे मुख्यतः जाप करते थे। यह जाप, जो एक, संक्षिप्त तीन या चार अक्षरों के संगीमय पद से प्रारंभ होता और मंत्र की तरह प्रयासहीन तरीके से परिवर्तित या जोड़ी गई ध्वनियों या अक्षरों के साथ बढ़ता जाता। जप करने वाले को इसमें कोई सचेतन प्रयास नहीं करना पड़ता। अनुभवी जपकर्ता अनुभवी ध्यान करने वालों की तरह जल्दी ही ऐसे दक्ष हो जाते कि उन्हें कोई श्रम नहीं करना पड़ता। सोचने की स्थिति से चिंतनहीन स्थिति में पहुँचने का काम सहजता से किया जाता है। परन्तु शुरुआत करने



वाले को प्रयत्न के विरुद्ध, बौद्धिक गतिविधि के विरुद्ध, सचेत रहना पड़ता है। अगर दिमाग में कोई विचार जग जाए और जाप के पूर्णतः अनिर्देशित परिवर्तनों को बाधित करें, तो पुनः मूल पद पर लौटना पड़ता है।

क्योंकि सनेमा, येक्वुआना लोगों की ही तरह शैशव के अपेक्षित अनुभवों से वंचित नहीं होते, वे प्रशांति के पथ पर हमसे कहीं आगे होते हैं। अपने सहीपन के भाव पर ठोस रूप से आधारित तुष्ट व्यक्तित्व सनेमा लोगों को स्वयं में शिशु के समान विचारहीन चरमानंद पैदा करने देता है। अतः वह क्रमशः बुद्धि के सीमांत दायित्वों से भी अधिक तेज़ी से और अधिक कारगर रूप से मुक्ति पा लेते हैं।

जिस अनुपात में सनेमा अपने परिवेश से आनंद और सामंजस्य को प्राप्त कर पाए हैं, वह प्रभावशाली है। ऐसी स्थिति पश्चिम या पूर्व कहीं भी पाना असंभव है। प्रत्येक कबीले में कई ऐसे लोग हैं जो श्रेष्ठतम गुरुओं की तरह हल्केपन व प्रसन्नता के साथ जीते हैं। मैं ऐसे परिवारों से परिचित हूँ, जिसके प्रत्येक वयस्क सदस्य में ये गुण विद्यमान थे। ऐसा सभ्यता में बेहद विरल है।

कुछ ही समय में मेरे लिए यह संभव हो गया कि मैं सही अंदाज़ लगा सकूँ कि सनेमा लोगों के समूह में कौन शमन थे। यह अनुमान मैं उनके चेहरे के विशिष्टभाव से लगा पाती थी। प्रथा यह थी कि ये बेहद प्रशांत लोग ही शमनवाद में प्रवेश करेंगे।

परिष्कृत जपकर्ता की प्रशांत स्थिति तथा शमन के रूप में उसकी शक्तियों के बीच का संबंध पेचीदा तथा रहस्यमय है। मैं जितना-सा इस विषय में जानती हूँ, वह यहाँ प्रासंगिक नहीं है। जो मतलब की बात है वह है, कुशलक्षेम का वह स्तर जो वह पा लेता है और उसे वह क्योंकर पाता है।

चयन के बोझ से छुटकारा दिलवाने के उपायों में एक कर्मकाण्ड भी है। इसमें पूर्वनिर्धारित तरीके मस्तिष्क तथा शरीर का उपयोग कर कुछ बोला जाता है, तथा कुछ कृत्य किए जाते हैं। स्नायु तंत्र कुछ करने तथा अनुभव करने में व्यस्त ज़रूर रहता है, परन्तु सोच-विचार की, चयन की आवश्यकता नहीं होती। व्यक्ति की स्थिति एक शिशु-सी, या किसी अन्य प्रजाति के पशु जैसी हो जाती है। कर्मकाण्ड के दौरान, खासकर जब व्यक्ति सक्रिय भागीदारी करता है, जैसे नृत्य करना, या जाप करना, तब वह प्राणी ऐसी ध्वजा के तहत रहता है जो बुद्धि से भी कहीं पुरातन हो। बुद्धि तब विश्राम करती

है। वह स्वयं को एक संदर्भ से दूसरे की ओर, एक अनुमान से दूसरे की ओर, एक निर्णय से दूसरे की ओर, लगातार दौड़ने से रोकती है। यह विश्राम न केवल बुद्धि को तरोताज़ा करता है बल्कि स्नायुतंत्र को भी। विचार से उत्पन्न होने वाली अशांति को संतुलित करने के लिए यह प्रशांति की मात्रा में भी इज़ाफ़ा करता है।

इसी उद्देश्य से, पुनरावृत्ति का अर्से से व्यापक उपयोग होता रहा है। फिर चाहे यह ढोल की स्थिर लय हो, या किसी धार्मिक अनुष्ठान का जाप, या डिस्कोथेक में पैर पटक, सिर झटक मस्तिष्क शून्य करने वाला सत्र ही क्यों न हो, या पचास बार हेल मेरी की प्रार्थना को दोहराना, इन सभी कृत्यों का असर “पवित्रता” का होता है। समचितता सामने आती है; दुष्चिंता पीछे धकेली जाती है। व्यक्ति में स्थित लालसामय शिशु अस्थाई रूप से आराम पाता है; उसी मात्रा में चूके गए अनुभव की आपूर्ति होती है। जिन लोगों को केवल निश्छलता की पूर्वजानुरूप स्मृति को ही संतुष्ट करना हो, वे ऐसा कर पाते हैं। वे सभी जो कुछ समय के लिए बुद्धि की लगाम विचारशून्य प्राणी को सौंप देते हैं, उनका कुशलक्षेम बढ़ता है।

## 6

### समाज

हालाँकि हम शैशवावस्था तथा वयस्कावस्था में विविध प्रकार की परिस्थितियों से क्रमशः अधिकाधिक अनुकूलित होते जाते हैं, फिर भी हमेशा कुछ सीमाएँ भी होती हैं जिनकी हदों में हम श्रेष्ठतम तरीके से काम कर पाते हैं। शिशुओं की आवश्यकताओं की आपूर्ति अधिकतर उनकी देखभाल करने वाले व्यक्ति के आचरण से ही हो पाती है। परन्तु एक बढ़ते हुए व्यक्ति की आंतरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसके समाज और उसकी संस्कृति से अधिकाधिक सहारे की ज़रूरत पड़ती है। मानव भयावह सातत्य विरोधी परिस्थितियों में भी *बचा रह* सकता है, पर उसका कुशलक्षेम, उसका आनंद, एक समग्र मानव के रूप में उसकी पूर्णता खो सकती है।

कई दृष्टिकोणों से संभवतः तब उसका मर जाना ही बेहतर होता, क्योंकि उसकी जीवन शक्ति अथक रूप से उसे हुई क्षति की मरम्मत करने और विकास के विविध चरणों को पूरा करने में जुटी रहती है। यह जीवन शक्ति अपने उपकरणों के रूप में चिंता, पीड़ा तथा तमाम अन्य संकेतों का प्रयोग कर यह संकेत देती है कि स्थितियाँ गलत हैं। इसका परिणाम हर तरह का दुख होता है। सभ्यता में इस व्यवस्था का नतीजा होता है निरंतर दुर्दशा। एक अर्से से अपूरित आवश्यकताएँ अक्सर अंदर से दबाव बनाती हैं, जबकि परिस्थितियाँ बाहर से। इस दोतरफे दबाव से निपटने की हमारे पास न तो पर्याप्त

तैयारी होती है, ना ही परिपक्वता। हम ऐसा जीवन जीते हैं, जिसके लिए हमारे क्रमविकास ने हमें लैस ही नहीं किया हो। साथ ही हम इसलिए भी अक्षम होते हैं क्योंकि हमारे प्रयास उन शक्तियों की मदद से किए जाते हैं जो व्यक्तिगत वंचनाओं से पंगु हो चुकी हों।

हमारा जीवन स्तर, बिना कुशलक्षेम के या जीवन की गुणवत्ता के स्तर को ऊपर उठाए बिना ही, बढ़ता जाता है। सिवाए उन बिरले मौकों पर, तथा सामाजिक-आर्थिक वर्ग के सबसे निचली पायदान में, जहाँ कुशलक्षेम के घटकों में आज भी भूख और सर्दी जैसे कारक शामिल हैं। परन्तु अक्सर दुख के कारण इतने स्पष्ट नहीं होते।

कुशलक्षेम के मौजूदा स्तर को खो देना, और तब स्व की अन्य से निपट पाने की क्षमता को लेकर चिंतित होना ही इस दुख का सबसे आम कारण है। ऐसी किसी वस्तु को पाने से चूक जाने का भाव, जो इस स्थिति को ठीक कर सकती थी, स्व को जड़ से कमजोर बनाता है। ऐसे में वह रोजमर्रा की हारों को लेकर चिंताग्रस्त हो जाता है। परन्तु हमारी अपेक्षाओं में एक ऐसी उपयुक्त संस्कृति की अपेक्षा भी शामिल है जिसमें हम अपनी क्षमताओं का सदुपयोग कर सकते हैं। अतः जहाँ भी व्यक्ति की परिस्थितियाँ इन अपेक्षाओं की सीमा में नहीं रह पातीं, वहीं कुशलक्षेम खो जाता है।

ऐसी किसी संस्कृति का वर्णन करना अव्यावहारिक, अवास्तविक तथा आदर्शवादी कल्पना होगा, जिसमें हम अपनी संस्कृति को कुछ इस प्रकार परिवर्तित कर दें ताकि हमारी सातत्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। अगर हम ऐसा परिवर्तन कर भी देते हैं तो भी यह निरर्थक ही होगा। इसलिए, क्योंकि जब तक हम स्वयं ऐसे लोग नहीं बन जाते जो उसे कारगर बना सकें, यह चेष्टा संतोषजनक सिद्ध नहीं हो सकती। ऐसे प्रयास तत्काल विकृत होंगे और अंततः बिखर जाएँगे।

फिर भी ऐसे कुछ गुणों को चिन्हित करना लाभदायक हो सकता है जिनकी मौजूदगी उस संस्कृति में किसी न किसी रूप में ज़रूरी हो, ताकि वह संस्कृति उसके सदस्यों की सातत्य आवश्यकताओं के उपयुक्त बन सके। अव्वल तो उसे एक भाषा की आवश्यकता होगी, जिसमें मानव की मौखिक अभिव्यक्ति की संभावना विस्तार पा सके। वयस्कों को आपस में वार्तालाप करते सुनने का अवसर बालक को मिलना चाहिए। साथ ही उसे अपने हमउम्र साथी भी चाहिए, जिनसे वह अपनी रुचि तथा विकास के स्तर के

अनुरूप बातचीत कर सके। यह भी महत्वपूर्ण है कि उसके ऐसे साथी भी हों, जो उम्र में उससे कुछ अधिक बड़े हों, ताकि उसे यह अनुमान भी हो सके कि जहाँ उसे पहुँचना है वह है क्या। इससे वह अपनी विकसित होती रुचियों की विषयवस्तु से परिचित हो सकेगा और तैयार होने पर सरलता से स्वयं को अनुकूलित कर सकेगा।

इसी प्रकार बालकों को अपनी गतिविधियों में साथ और उदाहरण दोनों की भी आवश्यकता होती है। जो समाज यह उपलब्ध नहीं करवा सकता, वह अपने सदस्यों की कुशलता के साथ उनके कुशलक्षेम को भी खो देगा।

किसी समाज में किसी गंभीर कमी का निश्चित संकेत पीढ़ियों के बीच फासले से मिलता है। अगर युवा पीढ़ी अपने बुजुर्गों के समान बनने में गर्व महसूस नहीं कर पाती, तो स्पष्ट है कि उस समाज ने अपने सातत्य को, अपनी स्थिरता को खो दिया है, तथा संभवतः उसके पास ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे वह अपनी संस्कृति कह सके। इसलिए, क्योंकि वह समाज लगातार मूल्यों के एक असंतोषजनक समूह से दूसरे तक लगातार परिवर्तित होता जा रहा है। अगर समाज के युवा सदस्यों को यह लगे कि उसके बुजुर्ग सदस्य हास्यास्पद, या गलत, या उबाऊ हैं, तो उनके सामने आगे बढ़ने के लिए कोई स्वाभाविक पथ भी नहीं होगा। वे स्वयं को भटका हुआ, अप्रतिष्ठित, तथा छला गया महसूस करेंगे। बुजुर्ग भी संस्कृति की निरंतरता को खो, स्वयं को छला गया व कुढ़न से भरा पाएँगे। वे भी युवा पीढ़ी के ही समान उद्देश्यहीनता का भाव अनुभव करेंगे।

“बेहतर कल” का सतत वादा (जिसके बिना हमें हमारे जीवन इतने असहनीय लगे कि हम उसकी कल्पना तक नहीं कर सकते) एक विकसित, स्थिर, गर्वीले तथा प्रसन्न समाज के सदस्यों को खास रोचक नहीं लगता। परिवर्तन के प्रति उनका सहज विरोध उनके रीति-रिवाजों की रक्षा करता है और नवाचार को बाधित करता है। हमारा अपना असंतोष का भाव, व्यापक प्रवंचना तथा अलगाव पर आधारित होता है। यह असंतोष ऐसा है जो परिवर्तन के विरोध की हमारी स्वाभाविक प्रकृति पर हावी हो उसकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति नहीं करने देता। यही असंतोष यह आवश्यक बनाता है कि हम “कुछ बेहतर” की उम्मीद करते रहते हैं, फिर चाहे हमारे पास पहले से कितने भी “लाभ” क्यों न मौजूद हों।

एक अपरिवर्तनीय जीवन शैली की आवश्यकता यह है कि उसके सदस्य उसके

लिए केवल उतना कार्य और सहकार करें, जो उनकी प्रकृति के लिए भारी न पड़े। यह काम ऐसा होना चाहिए जिसका आनंद वह व्यक्ति ले सके, जिसकी सारी पूर्व आवश्यकताएँ पूरी हो चुकी हैं। ताकि उसमें सामाजिक आचरण करने तथा अपनी क्षमताओं का उपयोग करने की इच्छा बाधित न हो।

परिवारों का अन्य परिवारों से घनिष्ठ संपर्क होना चाहिए और प्रत्येक को अपने कार्य-जीवन में संगति तथा सहकार का अवसर मिलना चाहिए। अगर किसी स्त्री को प्रतिदिन उसके बच्चों के साथ अकेले छोड़ दिया जाए तो वह सामाजिक उत्प्रेरणा से वंचित होती है और उसे ऐसी भावनात्मक व बौद्धिक सहायता की ज़रूरत होती है, जो मिल नहीं पाती। इसका नतीजा माँ, बच्चों, परिवार तथा समाज, सबके लिए खराब होता है।

हमारे अपने समाज में गृहिणियाँ, बजाय पीड़ित पत्नी की भूमिका अदा करने के, अपने आस-पास रहने वाली सखियों के साथ मिल कर घरेलू काम कर सकती हैं। शायद वे ऐसी व्यवस्था कर सकती हैं कि वे पहले एक के घर साथ-साथ काम करें, तब दूसरे के घर। जिन्हें अब खेल-समूह (प्ले ग्रुप) कहा जाता है उसमें एक सफल कार्य समूह के सभी घटक मौजूद होते हैं। इसमें माताएँ और अन्य लोग भी उपयोगी व रोचक काम कर सकते हैं। जबकि उनके बच्चे आवश्यक वयस्क निगहबानी के बिना, सिवाय जहाँ अधिक ध्यान की ज़रूरत हो, अपने खेल ईजाद कर सकते हैं, या फिर उन्हें वयस्क जो काम कर रहे हों उसमें ही भागीदारी करने की अनुमति हो। वयस्कों के सरोकार के केंद्र में रहने के बजाएँ अगर बच्चों को हाशिए पर रहने दिया जाए, तो नन्हे बिना दबाव के अपनी रुचियों तथा गति को तलाश सकेंगे। बशर्ते उन्हें विविध प्रकार की सामग्री तथा संभावनाओं को अभ्यास में लेने व ढूँढ़ पाने का मौका भी मिले। परन्तु जो मुख्य गतिविधि की जाए चाहे वह बुनाई हो, किसी उत्पाद का निर्माण हो, चित्रकारी, शिल्पकारी, मरम्मत या कुछ और — वह वयस्कों द्वारा तथा वयस्कों के लिए ही की जाए। बच्चों को बिना अधिक बाधा-व्यवधान डाले उसमें जुड़ने की अनुमति हो। इस प्रकार सभी लोग एक स्वाभाविक, दबावहीन तरीके से काम कर सकेंगे। न तो माताओं को अपने मस्तिष्कों को बच्चों के स्तर पर उतारने की ज़रूरत होगी, न ही बच्चों को वैसा आचरण करना होगा जिसे वयस्क उनके लिए सबसे अच्छा मानते हों। इससे उनकी पहल उन्हें निर्विघ्न और बिना टकराव प्रेरित कर सकेगी।

जहाँ भी वयस्क जाते हैं, वहाँ बच्चों को साथ जा पाना चाहिए। हमारी जैसी संस्कृति में जहाँ ऐसा कर पाना अधिकांशतः असंभव है, स्कूल तथा शिक्षक बच्चों की नकल करने और अपनी पहल पर कौशलों का अभ्यास कर सीखने की वृत्ति का लाभ उठा सकते हैं बजाए इसके कि वे उन्हें “सिखाएँ”।

सातत्य-संशुद्ध समाजों में कई पीढ़ियाँ एक ही छत के नीचे साथ-साथ रहेंगी। दादा-दादी/नाना-नानी यथासंभव मदद करेंगे, और जो लोग अपनी कार्यशक्ति के चरम पर हों वे अपने बुजुर्गों की सहायता बिना कुढ़े, उसी प्रसन्नता से करते हैं, जैसे अपने बच्चों की। परन्तु विभिन्न पीढ़ियों का साथ-साथ रहना तभी ही समृद्धिकारक बन पाता है जब सहवासियों के व्यक्तित्व तुष्ट हों। इतने तुष्ट कि वे शैशव के अपूरित ध्यान और देखभाल की कमी को पूरा करने के लिए एक-दूसरे की भावनाओं पर खिंचाव न डालें।

समाज के सदस्यों के बीच नेतृत्व स्वाभाविक रूप से उभरेगा, ठीक उसी तरह जैसे वह बच्चों के बीच उभरता है। और नेतृत्व स्वयं को केवल तब पहल करने तक सीमित रखेगा जब व्यक्तिगत पहल अव्यवहारिक सिद्ध हों। अनुसरण करने वाले ही यह तय करेंगे कि वे किसका अनुसरण करें और अपनी सुविधानुसार नेताओं को बदल सकेंगे। येक्वुआना लोगों जैसी सातत्य संस्कृति में नेताओं का कार्य न्यूनतम होता है और वहाँ लोग अगर चाहें तो नेता के निर्णय को नहीं भी मान सकते हैं। परन्तु हम इस प्रकार की अराजकता में सफलतापूर्वक जी सकें उसमें बहुत समय लगेगा। फिर भी इसे ध्यान में उस दिशा के रूप में रखना चाहिए, जिस दिशा में हमारी संस्कृतियाँ व जनसंख्या तब बढ़े जब विविध दबाव इसकी अनुमति दें।

जो लोग साथ रहते और काम करते हैं उनकी संख्या चंद परिवारों से लेकर कई सौ लोगों की हो सकती है। ताकि व्यक्ति उन सभी लोगों से अच्छे संबंध बनाए रखने में रुचि ले जिनसे उसका लेनदेन हो। यह ज्ञान कि व्यक्ति इन्हीं लोगों से लगातार संबंधित रहेगा लोगों को उनसे न्यायोचित व सम्मानजनक बरताव करने की ज़बरदस्त प्रेरणा देता है। हमारी अपनी दुनिया तक में, जहाँ एक तयशुदा संख्या के पड़ौसी, ग्रामीण समुदायों में या छोटे गाँवों में स्वयं को एक समाज के रूप में पाते हैं। मानव पशु हज़ारों-लाखों लोगों के साथ सचमें नहीं रह सकता। वह केवल एक सीमित संख्या के साथ रिश्ते बना सकता है। बड़े शहरों में भी यह देखा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति का कमोबेश एक

कबीलाई आकार का कामकाजी तथा सामाजिक दायरा होता है। उसके गिर्द अन्य लोग ही उसे यह महसूस करवाते हैं कि अगर पुराने रिश्ते टूट जाएँ तो नए रिश्ते बनाने के अनंत अवसर उसके सामने हैं।

मैं सभ्य समाज में लोगों से निपटने के जितने तरीके जान पाई थी उससे कहीं अधिक परिष्कृत उपाय मुझे येक्वुआना लोगों ने सिखाए। मेहमानों का अभिवादन करने का उनका तरीका मुझे खासतौर से युक्तियुक्त लगा।

इसे मैंने पहली बार तब देखा जब मैं एक दूरस्थ गाँव के दो येक्वुआना यात्रियों के साथ पहुँची। तब मुझसे यह अपेक्षा नहीं की गई थी कि मैं यह जानूँ कि मुझे कैसा आचरण करना चाहिए। सो एक वृद्ध व्यक्ति, जो अपनी जवानी में वेनेजुएलन लोगों के बीच रह चुका था और कुछ हिस्पानी भाषा जानता था, आया और उसने वेनेजुएला के लोगों के रिवाज़ के अनुसार कंधे को थपका कर मेरा अभिवादन किया और कुछ देर बात करने के बाद वह जगह दिखा दी जहाँ मैं अपना झूला-बिस्तर (हैमक) लगा लूँ।

पर मेरे दो साथियों के साथ बहुत भिन्न आचरण हुआ। वे पास ही एक बड़े गोल चबूतरे के नीचे बिना किसी कुछ कहे, और बिना किसी के द्वारा संबोधित हुए बैठ गए। उन्होंने एक-दूसरे को न तो देखा, न आपस में कोई बातचीत की। गाँव के निवासी अपने रोज़मर्रा के सामान्य काम करते हुए, अलग-अलग दूरियों पर आते-जाते रहे, पर किसी ने उनकी ओर झाँका तक नहीं। तकरीबन डेढ़ घण्टे तक दोनों पुरुष बिना हिलेडुले मौन बैठे रहे। तब एक स्त्री चुपचाप आई और उनके सामने कुछ खाना रख चली गई। पुरुषों ने फौरन खाने की ओर हाथ नहीं बढ़ाया बल्कि कुछ पल बाद चुपचाप कुछ खाया। तब उनके सामने से कटोरे हटा लिए गए और कुछ और समय गुज़रा।

अंततः एक व्यक्ति मंथर गति से उन तक आया और मेहमानों के पीछे के खंभों में से एक पर टेक लगा कर खड़ा हो गया। कई क्षणों बाद उसने धीमे से कुछ शब्द बाले। मेहमानों ने उसका उतना ही संक्षिप्त उत्तर दिया उसके पहले आसानी से दो मिनट गुज़र गए होंगे। तब फिर मौन छा गया। जब वे फिर से बोले तो ऐसा लगा मानों प्रत्येक कथन उसी मौन से बाहर निकला था। प्रत्येक व्यक्ति की शांति और प्रतिष्ठा पर किसी प्रकार की घुसपैठ नहीं की गई। जैसे-जैसे यह आदान-प्रदान अधिक जीवंत हुआ, अन्य लोग भी आए, कुछ समय खड़े रहे, तब बातचीत में शामिल हो गए। लगा मानो हरेक व्यक्ति



की प्रशांति का उन्हें अहसास हो, जिसे वे सुरक्षित रखना चाहते थे। किसी ने किसी को टोका नहीं, किसी की आवाज़ में किसी प्रकार का भावनात्मक दबाव नहीं था। प्रत्येक अपने ही केंद्र में संतुलित रहा।

बातचीत में हंसी प्रस्फुटित होने में अधिक समय नहीं लगा। दर्जन भर पुरुषों को उनकी बातचीत के बीच हंसी की उठती-गिरती समवेत तरंगों ने आलोकित किया।

सूर्यास्त पर एकत्रित पुरुषों को, जो अब तक गाँव के सारे ही लोग थे, स्त्रियों ने भोजन परोसा। समाचारों का आदान-प्रदान हुआ और खूब हँसी-ठहाके लगे। स्थानीय निवासी और मेहमान बिना कृत्रिमता या घबराहट के इस वातावरण में पूरी तरह समेकित थे। उनके बीच के मौन संप्रेषण टूट जाने के संकेत नहीं थे बल्कि प्रत्येक व्यक्ति के स्वयं के साथ शांति में होने के तथा यह आश्वासन मिलने के संकेत थे कि वे भी शांति में हैं।

जब गाँव के पुरुष अन्य इण्डियनों के साथ व्यापार के लिए लंबी यात्राओं पर जाते, तो लौटने पर उनका भी ठीक इसी तरह उनके परिवार व कबीले वालों द्वारा स्वागत किया जाता। उन्हें भी उतनी देर मौन बैठे रहने दिया जाता, जब तक वे ग्राम के जीवन के भाव को पुनः न प्राप्त कर लें। और तब बिना दबाव या भावनाओं के प्रदर्शनों के उनके पास यों ही बढ़ा जाता।

हम विदेशियों या अपरिचित लोगों को कुछ ऐसे देखते हैं मानो उनके व्यक्तित्व एक समान हों और आदिम लोगों को तो और भी अधिक। बेशक ऐसा है नहीं। स्थानीय लोकाचार का अनुपालन एक समाज के लोगों के आचरण को एक प्रकार की समानता जरूर देता है। परन्तु सातत्य संशुद्ध समाज में व्यक्तिगत अंतर अपनी विशिष्टताओं में अधिक स्वतंत्र अभिव्यक्ति पाते हैं। इसलिए, क्योंकि समाज को उनसे भयभीत होने की उनका दमन करने की जरूरत नहीं होती।

इसके विपरीत सभ्य समाजों में लोगों में सातत्य स्तरों में उनकी दूरी के अनुपात में अंतर नज़र आता है। यह अंतर दरअसल मुख्यतः इस पर निर्भर होता है कि लोगों के व्यक्तित्व में वंचना की गुणवत्ता व मात्रा के हिसाब से आई विकृतियों से वे किस हद तक अनुकूलित हो सके हैं। अतः वे अक्सर असामाजिक होते हैं और समाज उनसे और साथ ही अपने सदस्यों के आचरण में अपालन के सभी संकेतों से भयभीत रहता है। अमूमन जितनी अधिक सातत्य विरोधी कोई संस्कृति होती है, उतना अधिक दबाव वह अपने

सदस्यों पर डालती है। सदस्यों से अपेक्षा करती है कि वे सार्वजनिक और निजी आचरण में तयशुदा मानकों के पालन का दिखावा करें।

मैं एक बार यह देख चकित रह गई कि एक येक्वुआना के दिमाग में यह बात उठी कि वह गाँव के सामने की पहाड़ी पर चढ़े और वहाँ से एक ढोल को पीटते हुए ज़ोर से चिल्लाए। उसने यह तकरीबन आधे घंटे तक किया और तब जाकर उसका यह मनोवेग संतुष्ट हुआ। उसने ऐसा अपने निजी कारणों से किया और उसे यह चिंता नहीं सताई कि उसके पड़ौसी क्या सोचेंगे, हालाँकि यह कोई ऐसा कृत्य नहीं था जो सामान्यतः “किया जाता हो।” मैं इसलिए अचरज से भर गई क्योंकि मैंने मेरे समाज के इस अलिखित नियम पर कभी प्रश्न ही नहीं उठाया था कि समाज के स्वस्थचित सदस्य ऐसे “अतार्किक” मनोवेगों का दमन करेंगे, ताकि कोई उनसे डरे नहीं, उन पर अविश्वास न करे।

हमारी संस्कृति में इस नियम का एक उप-सिद्धान्त यह भी है कि हमारे सबसे प्रतिष्ठित व्यक्ति — जैसे फिल्मी सितारे, पॉप सितारे, विन्स्टन चर्चिल, एल्बर्ट आइन्स्टाइन तथा गाँधी जैसे व्यक्तियों को नियमों की अनदेखी कर कपड़े पहनने, या आचरण करने की छूट मिलती है। यह सब वे बिना शक जगाए तब नहीं कर पाते अगर वे इतनी ख्याति न पा चुके होते। जूडी गार्लेण्ड के त्रासद विपथन भी जनता को उतना डरावना नहीं लगता जितना ठीक वैसा आचरण हमें अपने किसी पड़ौसी में लगे। इसलिए, क्योंकि जूडी विख्यात थी, लाखों लोग उसका अनुमोदन करते थे। सो वह जो कुछ भी करती उसे स्वीकारने में कोई डर न था। उस पर निर्णय ले उसे स्वीकारने के लिए हमें अपनी संदेहास्पद क्षमता पर निर्भर ही नहीं करना था।

यह आसानी से देखा जा सकता है कि हममें से जो लोग कम विश्वसनीय हैं, वे ही दूसरों पर अधिक शंका करते हैं, जो समाज अपने सदस्यों को भरोसेमंद होने का आदेश देता है उसमें उपरोक्त आचरण को मनोरागी और असामाजिक माना जाएगा। परन्तु किसी ऐसे समाज में इसी आचरण को पूरी तरह सामाजिक भी माना जा सकता है जिसमें दूसरे को जब भी मौका मिले छलने का रिवाज़ हो, बशर्ते उस समाज के अन्य लोग भी ठीक यही करने वाला हों। ऐसे में व्यक्ति अपनी संस्कृति के सदस्यों से भी गैर-भरोसेमंद आचरण की अपेक्षा करता है, और लगातार इस मौके के फिराक में रहता है कि उन्हें खेल में मात कैसे दी जाए। कई देशों में जीवनचर्या ही यह होती है। बेशक यह

सब उस देश के भोले-भाले नागरिक के लिए कठिन सिद्ध होती है, जिसके लिए न्यायोचित आचरण सामाजिक आचरण का महत्वपूर्ण हिस्सा हो।

येक्वुआना लोगों का व्यापारिक लेन-देन तनाव उत्पन्न न करने की उत्कृष्ट अभिलाषा पर आधारित होता है। वैसे ही जैसे गाँव में आए आगंतुकों के आने पर। मुझे उनकी भद्रता की गहरी अंतर्दृष्टि पाने का एक बिरला अवसर तब मिला जब येक्वुआना मुखिया अंछू के साथ मुझे सौदा करना पड़ा। यह उस समय की बात है जब उसने मेरे साथ अमानव-सा सामान्य आचरण करने के बदले जिसे येक्वुआना-सा सम्मान नहीं दिया जाता, न येक्वुआना जैसे आचरण की उम्मीद की जाती है, का सा आचरण प्रारंभ किया, और मुझे उनके जैसे आचरण में निर्देशित करने का अभियान छोड़ा। उसने मुझे कोई मौखिक निर्देश या स्पष्टीकरण नहीं दिए। बल्कि ऐसे अनुभव दिए जो मेरी भ्रांतियों को तोड़ मेरी उस आंतरिक क्षमता को उजागर करें। मुझे स्वतः यह पहचानने दें कि किसी परिस्थिति विशेष में कौन-सा आचरण सर्वश्रेष्ठ रहेगा। कहा जा सकता है कि वह मेरे सातत्य के भाव को उन तमाम हस्तक्षेपों से मुक्त करने की चेष्टा कर रहा था, जो मेरी संस्कृति ने उस पर लादे थे।

यह वही अवसर था, जिसका मैं पहले उल्लेख कर चुकी हूँ, जब अंछू ने पूछा था कि मैं वेनेजुएला काँच के एक आभूषण के बदले क्या लेना चाहूँगी। मैंने फौरन कहा कि मुझे गन्ने चाहिए, क्योंकि हमारे अभियान दल की चीनी तेज़ धार में नाव पलटने से नष्ट हो चुकी थी। और इस वक्त तक कुछ भी मीठा खाने की मेरी इच्छा एक झोंक में बदल चुकी थी। अगले दिन हम उसके गन्ने के खेत में उसकी पत्नी के साथ गए (येक्वुआना लोगों में गन्ने की कटाई केवल स्त्रियाँ करती हैं) ताकि सौदा पूरा हो।

अंछू और मैं खेत के पास एक तने पर बैठे और उसकी पत्नी अंदर गई और चार गन्नों के साथ लौटी। उसने गन्ने धरती पर पटके और अंछू ने पूछा कि क्या मुझे और गन्ने चाहिए।

बेशक मैं जितने संभव हों उतने गन्ने चाहती थी, सो मैंने हाँ कहा।

सो उसकी पत्नी गई और दो गन्ने और ले आई। उन्हें उसने दूसरे गन्ने के साथ रख दिया।

“और?” अंछू ने मुझसे पूछा।

मैंने फिर से कहा, “हाँ, और!” पर तब अचानक रोशनी चमकी। हम हरेक अपने-आप के लिए शैली में मौल-तोल नहीं कर रहे थे, जैसा मैंने सोचा था। अंछू मुझसे एक साथी की तरह, मुझ पर पूरा भरोसा रख, एक न्यायोचित अदला-बदली का फैसला करने को कह रहा था, और मेरे मूल्यांकन को स्वीकारने को तैयार था। जैसे ही मुझे अपनी गलती का अहसास हुआ मुझे शर्म आई। मैंने उसकी पत्नी को हाँक लगाई, जो अपनी दर्राँती के साथ फिर से खेत में घुस चुकी थी। “तोइनी! सिर्फ एक!” सो सौदा सात गन्नों में सलटा और मोलभाव में दोनों पक्ष एक दूसरे के विरुद्ध नहीं रहे, न ही हममें से किसी में कोई तनाव लगा (पर यह तब हुआ जब मैं असली बात समझ गई)।

मुझे यह संभावना लगती नहीं है कि हमारी व्यापारिक तकनीकें येक्वुआना लोगों सी “सभ्य” बन सकेंगी। मैं यह कहानी सिर्फ एक उदाहरण की तरह प्रस्तुत कर रही हूँ, कि अगर संस्कृति आदेश दे और उसके सदस्यों पर यह भरोसा किया जा सके कि उनकी प्रेरणाएँ असामाजिक होने के बदले सामाजिक होंगी, तो कैसा आचरण स्वीकार्य हो सकता है।

जो समाज कम सुखद तथा कम आकर्षक रीति-रिवाज निर्धारित करता है, उसके भी सामाजिक उत्प्रेरणा रखने वाले सदस्य उनकी पालना करते हैं। उदाहरण के लिए सनेमा इण्डियन, जिनकी संस्कृति येक्वुआना लोगों से बहुत भिन्न है, अन्य सनेमा कबीले के गाँव पर हमला कर यथासंभव अधिक से अधिक स्त्रियों का अपहरण करना और पुरुषों को मार डालना उचित मानते हैं।

यह प्रथा उनकी संस्कृति का कब और क्यों हिस्सा बनी, या जिवारो इण्डियन जो दक्षिण अमरीकी महाद्वीप के दूसरी ओर बसते हैं, वे यह क्यों मानते हैं कि हर मौत का बदला लेना चाहिए, चाहे उसका कारण कुछ भी क्यों न रहा हो, कहा नहीं जा सकता। जो गौर करने योग्य है वह यह है कि सामाजिक उत्प्रेरणा वाले लोगों के समाज के सदस्य अपनी संस्कृति के आदेशों के अनुसार चलते हैं और उन पर नियमों की अनुपालना का भरोसा भी किया जा सकता है। असामाजिक या आपराधिक चरित्र उन लोगों में विकसित नहीं होता, जिनकी चिरंतन अपेक्षाएँ मायूस न हुई हों। जिस प्रकार एक सड़कछाप हत्यारा असामाजिक कृत्य करता है और एक सैनिक शत्रु की हत्या करते समय ऐसा नहीं करता, जाहिर है कि कृत्य नहीं वरन् उसका उद्देश्य ही कर्ता की सामाजिकता को मापता है।

संभावना यही है कि हम अपने समाज की संस्कृति को एक मानवोचित या सहृदय संस्कृति के रूप में देखना चाहते हैं। परन्तु “मानवोचित” कहने का अर्थ होना चाहिए, मानव सातत्य के प्रति सम्मान करने वाली संस्कृति। जो संस्कृति लोगों से ऐसा जीवन व्यतीत करवाती है जिसके लिए उनके क्रमविकास ने उन्हें तैयार ही नहीं किया हो, जो उनकी अंतर्जात अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं करती अतः उनकी अनुकूलनशीलता को उसकी हृद के परे धकेलती है, वह लोगों के व्यक्तित्व को निश्चित रूप से क्षतिग्रस्त करेगी।

मानव व्यक्तित्व को हृद के परे धकेलने का एक तरीका है, लोगों को न्यूनतम आवश्यक विविध उद्दीपन से वंचित करना। इससे कुशलक्षेम का भाव नष्ट होता है और वह वो रूप धर लेता है जिसे हम ऊब कहते हैं। सातत्य की समझ, इस अप्रिय भाव को जगा व्यक्ति को उसे बदलने को प्रेरित करती है, जो वह कर रहा होता है। हम जिस सभ्यता में रहते हैं, यह नहीं मानते कि हमें नहीं ऊबने का “अधिकार” है। अतः हम सालों-साल कारखानों और दफ्तरों में एकरस काम करते या फिर दिन भर अकेले अरोचक काम करते गुज़ारते हैं।

परन्तु इसके विपरीत येक्वुआना, जिनमें अपने सातत्य की सीमाओं का त्वरित और पैना अहसास होता है, और ये अपने कुशलक्षेम के भाव को खोए बिना स्वयं को अनुकूलित कर सकते हैं, तत्काल ऊबने के खतरे को भाँप कर काम रोकने की पुकार सुनते हैं।

जब वे कोई ऐसा काम करते हैं, जो एकरस हो तो उनके पास खतरे से बचने के कई तरीके होते हैं। जो स्त्रियाँ कंद कसने के लिए कद्दूकस बनाना चाहती हैं, उन्हें लकड़ी के फट्टे पर धातु के धारदार टुकड़े हथौड़े से ठोकने पड़ते हैं। वे सीधी-सीधी कतारें ठोकने के बदले पहले एक हीरे (ईंट) की आकृति बनाती हैं और तब खाली स्थान को तब तक भरती जाती हैं जब तक वह आकृति गायब ही न हो जाए। ऐसा करने का उद्देश्य है दस्तकार का मनोरंजन करना, जो हासिल जो जाता है।

दूसरा उदाहरण है छत का निर्माण, जो प्रत्येक ताड़ के पत्ते को एक ढाँचे पर लता से बाँध कर किया जाता है। पुरुष एक इंच चौड़ी पाट पर पत्तों की ढेरी के साथ बैठते हैं और पत्तों को एक-एक कर जमाते जाते हैं। किसी बड़ी छत को बनाते समय ऊब से बचे रह कर काम पूरा करने के उनके कई तरीके होते हैं। अब्बल तो वे अपने और पड़ोस

के गाँव के सभी पुरुषों को मदद के लिए बुलाते हैं ताकि काम जल्दी हो जाए। वे काम करने के लिए एकत्रित हों उसके पहले स्त्रियाँ इतने कंद का खमीर उठा कर रखती हैं कि जितने दिन काम चले सभी पुरुष लगभग धुत्त रहें और उन्हें ऊब का अहसास ही न हो। इस उत्सवनुमा माहौल में और इजाफा करने के लिए मनके, पक्षियों के पर और रंगीन लेपों से सजा जाता है। साथ ही कोई एक व्यक्ति अधिकर समय ढोल बजाता है इधर-उधर घूमता है। पुरुष और लड़के काम करते समय गपशप और मज़ाक करते हैं और तब तक छत बनाने के काम में जुटे रहते हैं, जब तक कुछ बदलाव पाने के लिए वे नीचे उतर कुछ दूसरा न करें। कभी तो ढेरों पुरुष एक साथ काम करते हैं, तो कभी केवल कुछ जिनका मन उसमें लग रहा हो। यह व्यवस्था सबके लिए कारगर रहती है। सभी मेहमानों को वह परिवार भोजन करवाता है जिनका घर बनवाया जा रहा हो, और जिसने आयोजन से पहले शिकार किया हो, ताकि सबके लिए माँस उपलब्ध हो सके।

दारू पीने के इन दिनों में जब हर कोई नशे में हों, और रात में जब पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे और भी पिए हुए हों और तब पुरुष काफी टुल्ल हों, विस्मय होता है कि आक्रामकता का कोई संकेत नज़र नहीं आता।

यह भी संभवतः उनके परितुष्ट व्यक्तित्वों की ही अभिव्यक्ति है कि उन्हें एक-दूसरे पर फैसले सुनाने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती और वे व्यक्तिगत अंतरों को सहज ही स्वीकार लेते हैं। हम स्वयं अपने बीच, और जो अधिक कुण्ठित लोग हैं उनमें यह देख सकते हैं, कि जितना अधिक हम कटे हुए होते हैं, उतने ही अधिक फैसले हम दूसरों पर सुनाते हैं। हम उनको व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से स्वीकार्य या अस्वीकार्य घोषित करते हैं। हम धर्म, राजनीति, राष्ट्रीयता, लिंग, या आयु तक के आधार पर उनसे टकराते हैं।

विवेकहीन घृणा का मुख्य आधार आत्म-घृणा होती है जो बचपन में स्वयं के सहीपन का अनुभव न होने के कारण उपजती है।

यह रोचक है कि हालाँकि येक्वुआना, सनेमा इण्डियनों को, बर्बर तौर-तरीकों वाले घटिया प्राणी मानते हैं, और येक्वुआना द्वारा सनेमा लोगों से जो अभिमानी आचरण किया जाता है उसके तले सनेमा कबीलों वाले कुछ अप्रसन्न रहते हैं। परन्तु दोनों में कोई भी समूह एक-दूसरे को न तो कोई नुक्सान पहुँचाना चाहते हैं, ना ही उनकी जीवन शैली में कोई हस्तक्षेप करना चाहते हैं। वे एक-दूसरे से मिलने जाते हैं, और

आपस में व्यापार करते हैं, और अक्सर पीठ-पीछे एक-दूसरे का मखौल उड़ाते हैं। परन्तु उनमें कभी आपस में कोई संघर्ष नहीं हुआ।

हमारी त्रासदी का एक बड़ा भाग यह है कि हम मानव प्रजाति के सदस्यों के रूप में अपने “अधिकारों” के भाव को खो चुके हैं। न केवल हम अपनी ऊब को बेबसी से स्वीकारते हैं, बल्कि शैशव व बाल्यावस्था के विनाश के बाद हमारे सातत्य का जो भी भाव बचा रहता है उस पर भी तमाम अन्य अतिक्रमण स्वीकारते हैं। उदाहरण के लिए हम कहते हैं “शहर के अपार्टमेंट में इतने बड़े प्राणी को रखना क्रूरता है।” पर यह कहते समय हम कुत्तों की बात कर रहे होते हैं, इंसानों की नहीं, जो दरअसल और भी बड़े और अपने परिवेश के प्रति कहीं अधिक संवेदनशील होते हैं। हम स्वयं पर मशीनों और वाहनों और दूसरों के रेडियो के शोरगुल का हमला होने देते हैं, और अजनबियों से बदतमीज़ व्यवहार की अपेक्षा रखते हैं। हम यह सीख रहे हैं कि हमारे बच्चे हमसे घृणा करें और हम हमारे माता-पिता से खीझें। हम न केवल अपनी काम कर पाने की, सामाजिक आचरण कर पाने की, क्षमता को लेकर असुरक्षित महसूस करते हैं, बल्कि अक्सर अपने विवाहों के विषय में भी। हम यह मान कर चलते हैं कि हमारा जीवन कठोर होगा ही और जितनी सी खुशी हमें मिलती है उसे पा स्वयं को *भाग्यशाली* मानते हैं। हम प्रसन्नता को अपना जन्म-सिद्ध अधिकार नहीं मानते, न ही हम इसे शांति या संतुष्टि से अधिक ऊँचा मानते हैं। वास्तविक आनंद, जिस स्थिति में येक्वुआना अपना अधिकाँश जीवन बिताते हैं, हममें बिल्कुल बिरले ही मिलता है।

क्रमविकास ने हमें जिस प्रकार के जीवन के लिए तैयार किया है, अगर वैसा जीवन जीने का हमें अवसर मिलता तो हमारे कई मौजूदा उत्प्रेरक प्रभावित होते। अक्वल तो हम यह कल्पना ही नहीं करते कि बच्चों को वयस्कों से अधिक प्रसन्न रहना चाहिए, और युवा वयस्कों को वृद्धों से। हम देख चुके हैं कि हमारा यह नज़रिया मुख्यतः इसलिए होता है, क्योंकि हम अपने जीवन के खो चुके सहीपन को पुनः पाने के लिए किसी न किसी लक्ष्य का पीछा करते रहते हैं। जैसे-जैसे हम उन लक्ष्यों को हासिल करते हैं, हमें पता चलता है कि बचपन से जो अनाम वस्तु हमसे दूर गई थी, उसका अभाव अब भी हमें खल रहा है। धीरे-धीरे हम इस विश्वास को भी खोने लगते हैं कि लगातार बनी रहने वाली यह लालसा, हमारी अगली उम्मीदों से तुष्ट हो सकेगी। लगातार होने वाली

निराशा को यथासंभव झेल पाने के लिए हम खुद को “वास्तविकता” को स्वीकारना सिखाते हैं। मध्य जीवन के किसी बिन्दु पर पहुँच हम खुद से कहने लगते हैं कि हम किसी न किसी कारण, संपूर्ण कुशलक्षेम को भोग पाने का अवसर चूक गए हैं, नतीजन हमें स्थाई समझौते की स्थिति में ही जीना होगा। यह स्थिति आनंद में मददगार नहीं होती।

क्रमविकास ने जैसे तैयार किया है उस प्रकार जीने पर व्यक्ति का इतिहास बिल्कुल भिन्न होता है। शैशवास्था की इच्छाएँ, बाद में आने वाले बचपन के विभिन्न चरणों में बदलती हैं, और प्रत्येक इच्छा समूह के तुष्ट होने पर अगले चरण की लालसाएँ जगती हैं। खेलन की इच्छा धुंधली पड़ती है, और वयस्क बनने के साथ काम करने की इच्छा बलवती बनती जाती है। विपरीत लिंग के किसी आकर्षक सदस्य को तलाशने, उसके साथ जीवन साझा करने की इच्छा पूरी होते ही, अपने जीवन-साथी के लिए काम करने की इच्छा, संतान उत्पन्न करने की इच्छा जगाती। बच्चों के प्रति मातृ-पितृवत् भाव विकसित होते हैं। अपने समान लोगों के साथ मिलने-जुलने की इच्छा बचपन से मृत्यु तक पूरी होती रहती है। अपनी चरमावस्था में वयस्कों में अपनी परियोजनाएँ बनाने और उन्हें अंजाम देने की इच्छा की आपूर्ति होती है। जैसे-जैसे उम्र शारीरिक शक्ति को कम करती है, अपने प्रियजनों को सफल होते देखने से शांति महसूस करने और अनुभवों में विविधता को कम करने की इच्छा उभरती है। व्यक्ति यह महसूस करना चाहता है कि क्रमशः जीवन-चक्र में वस्तुएँ उनकी मदद से और अंततः बिना उनकी किसी मदद के चल रही हैं। जीवन में जो क्रमशः लालसाएँ उभरती हैं, उनमें से आखिरी लालसाएँ पूरी होने के बाद उनका स्थान केवल विश्राम करने की, और कुछ भी नहीं जानने की, मात्र समाप्त होने की लालसा ही बचती है।

प्रत्येक चरण में, जो पिछले चरण की लालसाओं की आपूर्ति पर टिका होता है, लालसाओं के उद्दीपन को उनकी संपूर्ण अनुक्रिया मिलती है। अतः वृद्ध होने के बदले युवा होने में कोई वास्तविक लाभ नज़र नहीं आता है। प्रत्येक काल की अपनी विशेष खुशियाँ होती हैं। और जब इच्छाओं का कोई एक समूह अपने उद्देश्यों में सफल हो लेता है, तो युवकों से, या किसी भी अन्य आयुवर्ग के व्यक्ति से, जलने का कोई कारण भी नहीं बचता।

बेशक पीड़ा और रोग, प्रियजनों की मृत्यु, कष्ट तथा निराशाएँ, प्रसन्नता की इस



सामान्य स्थिति को तोड़ते हैं। पर वे इस तथ्य को परिवर्तित नहीं कर देते कि प्रसन्नता ही मानक है। न ही वे किसी गड़बड़ी के बाद प्रसन्नता को पुनःस्थापित करने, उसे स्वस्थ करने, की सातत्य की प्रवृत्ति को ही प्रभावित करते हैं।

असल बात यह है कि अगर सातत्य के भाव को हमारे समूचे जीवन भर काम करने दिया जाए, तो उसमें हमारे हितों की रक्षा करने की क्षमता होती है। और यह क्षमता बुद्धि द्वारा निर्मित किसी भी प्रणाली से बेहतर भी होती है।

## सातत्य के सिद्धाण्ठीं की पुनः लागू करना

जो शिशु अपने देखभाल करने वाले के शरीर से लगातार संपर्क में रहता है, उसका ऊर्जा क्षेत्र देखभाल करने वाले व्यक्ति के साथ एकमेक हो जाता है। ऐसे में दोनों की अतिरिक्त ऊर्जा उसकी गतिविधियों के माध्यम से व्यय हो जाती हैं। शिशु विश्रांति में रहता है, उसमें तनाव इकट्ठा नहीं होता क्योंकि शिशु की अतिरिक्त ऊर्जा बह कर देखभाल करने वाली में समा जाती है।

गोद के येक्वुआना शिशुओं तथा हमारे अपने शिशुओं के आचरण में आश्चर्यजनक विषमता होती है, क्योंकि हमारे शिशुओं का अधिकांश समय शारीरिक अकेलेपन में बीतता है। येक्वुआना शिशु लचीले होते हैं, और उन्हें आसानी से गोद उठाया जा सकता है, वे उठाए जाने का विरोध नहीं करते, और उन्हें सुविधा जनक भंगिमाओं में उठाया जा सकता है। परन्तु इसके विपरीत हमारे शिशु सीधे पैर मारते हैं, जोर-जोर से हाथ चलाते हैं। अपनी पीठ को तान कर अकड़ा लेते हैं। और अगर वे यह सब करते रहें तो उन्हें उठाना कठिन होता है। वे अपने पालने और बच्चागाड़ी में छटपटाते हैं। वे दरअसल उस बढ़ते तनाव को निकालना चाहते हैं, जो उनमें स्वयं में रोके रख पाने या निकाल पाने से अधिक ऊर्जा के कारण बनता है। वे तब अक्सर किसी का ध्यान आकर्षित करने से उत्तेजित हों, जोर से चीखते हैं और साथ ही छटपटाते हैं। हालाँकि

उस वक्त वे आनंद की अभिव्यक्ति कर रहे होते हैं, यह उद्दीपन उनकी माँसपेशियों में हिंसक प्रतिक्रिया पैदा करता है, जिससे उनकी कुछ जमा ऊर्जा खर्च हो पाती है।

जो निष्क्रिय शिशु, अपने सातत्य में आरामदेह स्थिति में हो, अगर शारीरिक संपर्क की उसकी सतत् आवश्यकता पूरी हो रही हो, तो वह ऊर्जा व्यय करने में कम योगदान करता है। वह यह काम उस सक्रिय वयस्क पर छोड़ता है जो उसे गोद में थामे हो। परन्तु यह स्थिति उस समय मूलभूत रूप से बदल जाती है, जब वह गोदी के चरण को पूरा कर, घुटनों के बल रेंगने लगता है। तब अपनी ऊर्जा के चक्र की व्यवस्था उसे स्वयं करनी पड़ती है। कम से कम दिन के दौरान जब वह अपनी माता से दूर रहता है। उसकी गतिविधियाँ बहुत बढ़ जाती हैं। कुछ समय में वह रेंगने में माहिर हो जाता है, और तेज़ गति से चलता है। खासकर तब जब वह घुटनों चलने में दक्ष हो जाए। अगर उसे बाधित न किया जाए तो वह उत्साह पूर्वक और लगातार, उपलब्ध क्षेत्र में घूमता है, और जिस दुनिया में उसे अब जीना है उसे तलाशने में अपनी अतिरिक्त ऊर्जा को खर्च कर देता है।

जब वह चलने, दौड़ने और खेलने लगता है तो उसकी गति इतनी तेज़ होती है, जो किसी वयस्क में उन्मत्त-सी लगे। जो वयस्क उसके साथ बने रहना चाहते हैं, वे जल्दी ही पस्त हो जाते हैं। उससे बड़े और हमउम्र बच्चे ही उसके उपयुक्त साथी सिद्ध होते हैं। शिशु उनकी नकल करना चाहता है और अपनी लगातार बढ़ती क्षमता से यथासंभव श्रेष्ठतम तरीके से ऐसा करता है। उसकी आश्चर्यजनक गतिविधि को कोई दूसरा नहीं, वह स्वयं ही सीमित करता है। जब वह थक जाता है तो वह आराम करने अपनी माँ के पास जाता है, या कुछ और बड़े हो जाने पर, सीधे अपने बिस्तर तक पहुँचता है।

परन्तु अगर किसी कारणवश बालक अपनी ऊर्जा को पर्याप्त मात्रा में खपा न पाए, जैसा सभ्य परिस्थितियों में उसकी गतिविधियों को सीमित करने पर होता है, अगर उसे खुले में खेलने के लिए पर्याप्त समय न मिले, या घर के अंदर जगह की कमी हो, या खेल दड़बे में बंद रखा गया हो, बागडोर, पालने या ऊँची कुर्सी पर कैद किया गया हो तो उसकी गतिविधियाँ सीमित हो जाती हैं।

जब बालक पैरों से लतिया कर, हाथ चलाकर और शरीर को जकड़ कर अन-अभिव्यक्त ऊर्जा की असुविधा को निकाल पाने के चरण को पार कर लेता है, तो उसकी अतिरिक्त ऊर्जा काफी हद तक उसके यौनांगों में केंद्रित हो जाती है। उन्हें और उत्तेजित

करने से वह शेष शरीर की आतिरिक्त ऊर्जा का बहाव भी उसी दिशा में तब तक मोड़ता है जब तक वह वहाँ से निकल न जाए। इस प्रकार हस्तमैथून वह सुरक्षा वाल्व बन जाता है जिससे दैनिक गतिविधि में जो ऊर्जा नहीं खप पाती, वह निकलती है।

इसी प्रकार वयस्कावस्था में अतिरिक्त ऊर्जा कामक्रीड़ से केंद्रित होती है और कामोत्ताप द्वारा निकलती है। यों यौन संभोग दो भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति करता है, एक प्रजनन का तथा दूसरा ऊर्जा के स्तर को आरामदेह स्तर पर बनाए रखने का।

जिन लोगों की प्रवंचनाओं ने उनके व्यक्तित्व के कुछ पक्षों को तनाव की स्थिति में ला दिया हो, उनमें कामोत्ताप अक्सर केवल उस ऊर्जा को सतही स्तर पर निकाल पाता है, जो उसके तनावग्रस्त मांसपेशियों को स्थाई रूप से जकड़े रखती है। अतिरिक्त ऊर्जा का पूरी तरह निकल न पाना उन्हें लगातार असंतुष्ट रखता है। यह असंतुष्टि क्रोध, यौन में अतिशय रुचि, ध्यान केंद्रित कर पाने की अक्षमता, घबराहट या असंयमित यौन संभोग में अभिव्यक्त होती है।

स्थिति को और भी पेचीदा बनाने के लिए वंचित वयस्क पुरुष (या स्त्री) में यौन की भौतिक अभिव्यक्ति की आवश्यकता, अयौनिक शारीरिक संपर्क की आवश्यकता से भी मिली होती है, जो शैशवकाल में उसे प्राप्त नहीं हो सकी थी। यह पिछली आवश्यकता हमारे समाज में स्वीकार्य नहीं है। ऐसे शारीरिक संपर्क को यौन की इच्छा के अर्थ में ही समझा जाता है। अतः जो पाबंदियाँ यौन को लेकर हैं, वे इस सुखद शारीरिक संपर्क पर भी लागू होती हैं।

येक्वुआना बालक और वयस्क, जिन्हें शैशवावस्था में भरपूर शारीरिक संपर्क मिल चुका हो, वे फिर भी पर्याप्त शारीरिक संपर्क का सुख पाते हैं। वे पास-पास बैठते हैं, एक ही हैमक में विश्राम करते हैं, एक-दूसरे का श्रृंगार करते हैं।

इस मौजूदा वर्जना को तोड़ने की ज़रूरत हमें उनसे कहीं अधिक है। शारीरिक संपर्क के आश्वासन की, इस मानवीय आवश्यकता को पहचानने की ज़रूरत है। हमारी अपूर्ण शैशवकालीन आवश्यकता शारीरिक संपर्क की हमारी स्वाभाविक ज़रूरत को बच्चों और वयस्कों में बेहद बढ़ा देती है। परन्तु इस आवश्यकता के बने रहने के साथ अगर हम उनका उपयोग करना चाहें, तो उसकी आपूर्ति के अवसर भी बने रहते हैं।

यौन के अधिक व्यापक शीर्षक के तहत, एक भिन्न आवेग के रूप में अचिन्हित

एक आवश्यकता है किसी व्यक्ति द्वारा थामे जाने की। किसी अन्य व्यक्ति की सुरक्षा में धिरने की, शिशुवत स्नेह पाने की, स्वयं को प्रेम्य महसूस करने की। सिर्फ इसलिए नहीं कि कोई व्यक्ति घर के लिए वेतन लाता है, या बढ़िया भोजन बनाता है, बल्कि सिर्फ इसलिए क्योंकि उसका अस्तित्व है। आश्वासित करने वाला जो वातावरण विवाहित लोगों में शिशुबोली से बनता है, या शिशु जैसे नामों के प्रयोग से बनता है, वह माता-पिता की उपेक्षा से अनुभव में रह गई कमी को भी पूरा करता है। शिशुबोली का व्यापक उपयोग अपने-आप में इस ज़रूरत की निरंतरता का प्रमाण है।

अक्सर यौनेच्छा तथा स्नेह पाने की इच्छा एक से दूसरे की ओर ले जाती है। वयस्कों में जो आवश्यकता अधिक तात्कालिक हो, उसकी पूर्ति के बाद दूसरी आवश्यकता उभरती है। अगर कार्यालय में गुजरा दिन पति में किसी खास तरह की असुरक्षा पैदा कर दे, तो घर लौटने के बाद पति चाह सकता है कि पत्नि उसे बाहों में घेर ले और स्नेह जताए। परन्तु जब यह ज़रूरत पूरी हो जाए तो वह पा सकता है कि उसकी रुचि संभोग की इच्छा में तब्दील हो चुकी है। परन्तु हमारे समाज में संभव है कि वह ऐसा करने पर स्वयं को बाध्य महसूस करे, क्योंकि हमारे यहाँ ये दोनों ज़रूरतें एक-दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं।

गोद के अनुभव से वंचित वयस्कों में इन दोनों आवश्यकताओं का जो जबरन मिश्रण हुआ, वह अलग-अलग लोगों में उनके वंचना की प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। दम्पतियों को अगर वे अपना वैवाहिक जीवन “सफल” बनाना चाहें तो, स्वयं अपनी तथा अपने साथी की आवश्यकताओं को ध्यान में रख, यथासंभव उसकी आपूर्ति की चेष्टा करनी चाहिए।

परन्तु यौन-संभोग की आवश्यकता तथा स्नेह की आवश्यकता, जो लगभग मातृवत् शारीरिक संपर्क की ज़रूरत है, के बीच जो भ्रम है वह “लाल गर्मागर्म ममा” जैसा जुमलों को पैदा करता है। इस भ्रम का समाधान ज़रूरी है। मेरा विश्वास है कि इस अंतर की स्पष्ट समझ तथा दोनों को जुदा रखने के कुछ अभ्यास द्वारा वर्तमान में जितना संभव है उससे कहीं अधिक स्नेह का आदान-प्रदान किया जा सकता है। और अगर व्यक्ति किसी से यौनिक रिश्ता कायम न करना चाहे तो, उसकी पेचीदगियों के बिना ही। शारीरिक सांत्वना की लालसा का विशाल भण्डार तब काफी कम हो सकता है, जब

सामाजिक रूप से किसी भी लिंग के साथी के साथ हाथ पकड़ चलना, जिससे बातचीत हो रही हो केवल उसके पास नहीं, बल्कि उसके सट कर बैठना, सार्वजनिक रूप से और एकांत में, एक-दूसरे की गोद में बैठना, मन में इच्छा जगे तो किसीके ललचा रहे सिर पर हाथ फेरना, अधिक आज़ादी के साथ और अधिक सार्वजनिक रूप से किसी को गले लगाना, अपनी स्नेह भावनाओं पर सामान्यतः तब तक लगाम न लगाना जब तक स्नेह पाने वाला उसे न चाहे, आदि को स्वीकृति नहीं मिल जाती।

तथाकथित भेंट समूहों (एन्काउन्टर ग्रुप्स) में अधिक शारीरिक संपर्क की दिशा में पहल की गई है। ये समूह पारस्परिक स्पर्श तथा एक-दूसरे को थामने की पैरवी यह समझे बिना ही करते हैं कि हमें इसकी आवश्यकता भला क्यों है।

परन्तु एक समूह में एक ऐसा प्रयोग भी किया गया (जिसका उल्लेख एक पत्रिका में उन पर छपे एक लेख में था) जिसे असाधारण सफलता मिली। इसे “इन्सानी सैण्डविच” का नाम दिया गया है। इसमें दो लोगों की बीच एक तीसरा भी होता है। दो लोग गाल से गाल सटा कर नाचने वालों की तरह खड़े होते और तीसरा व्यक्ति किसी एक की पीठ से सटकर। और बाकी दोनों के हाथ उसके आगे और पीछे सटे हुए। बीच का व्यक्ति इस प्रकार घेर लिया जाता है जैसे कोई वयस्क किसी अन्य वयस्क द्वारा तब तक घेरा नहीं जा सकता जब तक उनमें से एक बौना और दूसरा दैत्यकार न हो। समूह जो कुछ करता है उसमें सबसे संतोषप्रद यही है... उस बीच वाले व्यक्ति के लिए, जिसे उस पल परमानंद की अनुभूति होती है।

सातत्य के दृष्टिकोण से प्रारंभ कर अगर मानव की आवश्यकता क्या है, तथा उसे उनकी ज़रूरत क्यों है समझने की चेष्टा की जाए, तो हम स्वयं अपने व दूसरों के आचरण को अधिक उपयोगी तरह से समझ सकेंगे। संभव है कि तब हम अपने माता-पिता या समाज पर हमारे साथ बुरा करने का दोष लगाने के बदले यह समझ सकें कि सभी लोग वंचना के पीड़ित हैं। आर्चबिशप और हिप्पी, उपन्यासकार और स्कूली शिक्षक, और शैतान नन्हे छोकरे — सभी सहीपन के भाव को पाने की राह तलाश रहे हैं। फिल्मी सितारे, राजनीतिज्ञ, अपराधी, कलाकार, समलैंगिक, नारी-मुक्तिवादी और व्यापारी भी ठीक यही कर रहे हैं। पशु होने के कारण हम अपनी अपेक्षाओं को पूरा करने की दिशा में झुकने से स्वयं को रोक ही नहीं सकते, फिर चाहे हमारी वंचनाओं के मिश्रण ने हमारे

वास्तविक आचरण को चाहे कितने ही विवेकहीन उलझाव में क्यों न फँसा दिया हो।

पर परेशानी क्या है को समझना और यह अहसास करना कि हम महज पीड़ितों के पीड़ित हैं, कि यहाँ जीत कोई भी नहीं रहा है, हमारा उपचार नहीं कर सकता। हद से हद यह समझ कुशलक्षेम से गलत दिशा में हटने के बजाए, सही दिशा को चुनने में हमारी मदद कर सकती है।

सातत्य के सिद्धान्तों के अधिक प्रत्यक्ष उपयोग का संकेत भी मिलता है। यह विश्वास करने का कारण भी है कि शैशव के उस अनुभव के अभाव की आपूर्ति किसी भी चरण में, बच्चों तथा वयस्कों के लिए की जा सकती है। ऐसी आशा रखने का एक कारण तो यही है कि इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि यह ज़रूरत एक आवश्यकता के रूप में वंचित शिशु में बढ़ते समय तथा उसके पूरे वयस्क जीवन के दौरान भी लगातार बनी रहती है। हम अपनी शिशुवत् आवश्यकताओं की पूर्ति को तलाशते रहते हैं। पर क्योंकि हम इस बात पर स्पष्ट नहीं होते कि हम तलाश क्या रहे हैं, हमें खास सफलता नहीं मिल पाई है।

गोद के अनुभव की कमी का उपचार बच्चों तथा वयस्कों में संभव है और किया जा सकता है, मानने का एक अन्य सशक्त कारण है डॉ. डोमन तथा डॉ. डेलाकाटो के प्रयोग। इन चिकित्सकों ने फिलैडेल्फिया स्थित क्लिनिक में यह प्रदर्शित किया कि घिसटने रेंगने के बाद के चरणों पर वंचित बड़े बच्चे तथा वयस्क लौटते हैं। नतीजन वे इन चरणों के पूर्ण होने पर उन क्षमताओं को विकसित भी कर पाते हैं जो इन चरणों पर आश्रित होती हैं।

उन्होंने विशेष रूप से यह पाया कि जिन लोगों को बचपन में सही समय पर आज़ादी से घुटनों के बल चलने नहीं दिया गया था, जिन्हें खेलदड़बों से बाधित किया गया था, या किसी दूसरे कारण से वे रेंगने-सरकने की आवश्यकता पूरी नहीं कर पाए थे, वे अपनी मौखिक क्षमताओं को पूरी तरह विकसित नहीं कर पाए थे। कुछ मामलों में ऐसे लोग हकलाने लगे थे। ऐसे लोगों को कई महीनों तक प्रतिदिन लगभग एक घंटे रेंगने, घुटने चलने की शैशवावस्था की गतिविधि करने देने के बाद वे ठीक हो गए। इसके अतिरिक्त उन्हें यह प्रशिक्षण दिया गया कि वे अपने मस्तिष्क के एक भाग को दूसरे पर पूरी तरह हावी हो जाने दें, अगर ऐसी स्थिति पहले ही उनमें न रही हो तो। इसका मतलब है कि

जो व्यक्ति दाहिने हाथ या दाहिने पैर का उपयोग प्रमुखता से न करता हो, जिसकी दाहिनी आँख अधिक प्रमुख न हो, या शरीर का बाँया हिस्सा अधिक सशक्त न हो, उसे अभ्यास द्वारा, प्राबल्य प्रशिक्षण द्वारा, ऐसा बनने को प्रशिक्षित किया गया।

डॉ. डोमन तथा डेलाकाटो ने अपना काम प्रारंभ तो क्षतिग्रस्त मस्तिष्क वाले बच्चों के साथ किया था, परन्तु उन्होंने बाद में पाया कि वे चेस्टनट हिल अकादमी, जहाँ डेलाकाटो सहायक हेडमास्टर थे, के “सामान्य” बच्चों के मौखिक कोशल को भी सुधार सकते हैं। उन्होंने लड़कों के एक समूह को दो हिस्सों में बाँटा और दोनों समूहों की कॉलेज बोर्ड वर्बल-एण्टिट्यूड (मौखिक-अभिवृत्ति) परीक्षा ली। तब एक समूह को छह सप्ताह का सघन रेंगने-सरकने, तथा प्राबल्य का प्रशिक्षण दिया। दूसरा समूह हमेशा की तरह केवल स्कूल जाता रहा। तब दोनों समूहों की पुनः वही परीक्षा ली गई। जिन्हें रेंगने नहीं दिया गया था उन्हें 6.8 बिन्दु मिले। परन्तु प्रायोगिक समूह का चौंकाने वाला औसत 65.8 बिन्दु था। इस प्रयोग के बाद चेस्टनट हिल अकादमी के जूनियर स्कूल तथा उनकी विश्वविद्यालयी फुटबॉल टीम में रेंगने-सरकने तथा प्राबल्य प्रशिक्षण, पाठ्यक्रम का नियमित भाग बनाया गया।

रेंगने-सरकने के अनुभव की ज़रूरत की आपूर्ति के नतीजे यह संकेत देते हैं कि रेंगने के चरण की संपूर्ण अभिव्यक्ति से लोग व्यापक स्तर पर वंचित रह जाते हैं। यह तथ्य कि यह अनुभव स्वाभाविक कालक्रम के बाहर दिए जाने के बावजूद प्रभावी हुआ, इससे ही उम्मीद जगती है। यह इस बात की पुष्टि भी करता है कि शैशव की आवश्यकताएँ अनिश्चित समय तक इस अपेक्षा से बनी रहती हैं कि कभी तो उनकी पूर्ति होगी। अतः उनको किसी भी आयु में तुष्ट किया जा सकता है।

मुझे इसका निहितार्थ यह लगता है कि इसके पहले के तथा अधिक रचनात्मक अनुभव जो शिशु को गोद की अवस्था में होने चाहिए थे, पर जिनसे वे वंचित रह गए, उन्हें भी जीवन में बाद के चरणों में उपलब्ध करवाया जा सकता है, बशर्ते हम इसके उपाय तलाश लें। बच्चों और वयस्कों को हाथों और घुटनों के सहारे रेंगने को कहना आसान है, पर एक बड़े बच्चे या पूर्ण वयस्क को गोदी उठा लेना समस्यात्मक है।

छोटे बच्चे, जो शैशव अवस्था में गोद से वंचित रहे, उन्हें हर संभव मौके पर अपने माता-पिता (या किसी अन्य व्यक्ति) की गोद से चिपटने देना, और माता-पिता के साथ



बिस्तर में सोने देने से भारी लाभ हो सकता है। शायद इसमें अधिक समय भी नहीं लगे कि उनका मन पूरी तरह भर जाए और वे अपने लिए अलग बिस्तर चाहने लगे। जैसा कि वे पहले ही करते, अगर उन्हें जन्मते ही माता-पिता के बिस्तर पर साथ सोने का मौका मिला होता।

इतिहास के इस क्षण में हमारे रीति-रिवाज़ जैसे हैं उनके साथ अपने बच्चे को साथ सुलाने की पैरवी करना बिल्कुल अजीब लग सकता है और उतनी ही विचित्र उसे गोदी उठाए रखने, सोते या जगते हर पल किसी की बाहों में रखने की बात लगती है। परन्तु सातत्य के आलोक में तथा उसके करोड़ों वर्षों की निरंतरता में हमारा अपना नन्हा सा इतिहास ही, मानव तथा मानव पूर्व अनुभव के स्थापित मानकों से क्रांतिकारी विचलन का प्रतीत होता है।

कई ऐसी स्त्रियाँ और ऐसे पुरुष हैं जो प्रतिवाद में कहेंगे कि उन्हें यह डर है कि वे बगल में सोते शिशु पर करवट न ले लें, या चद्दरों से दबा उसका दम ही न घोट दें। परन्तु सोता हुआ व्यक्ति न तो मृत होता है ना ही मूर्च्छित, बशर्ते वह नशे में धुत्त या मादक द्रव्यों के प्रभाव में, या बीमार न हो। बिना जगे भी व्यक्ति में एक सतत् जागरूकता होती है।

मुझे वे पहली रातें याद हैं जब मेरा बिस्तर मैंने एक दो पाउण्ड के शिशु रोएँदार बंदर से साझा किया था। पहली रात मैं एक दर्जन बार उसे दबाने के भय से जगी। दूसरी रात भी इतनी ही बुरी गुज़री। पर कुछ ही दिनों में मैंने सोते समय उसकी स्थिति के प्रति सजग रहना सीख लिया और मैं, ध्यान रख सोने लगी। ठीक उस तरह जैसे अन्य बड़े पशु किसी नन्हे पशु के साथ सोते हैं। इस जागरूकता के चलते मुझे यह संभावना कम लगती है कि शिशु का दम माता-पिता की चद्दर या रज़ाई के नीचे घुट जाएगा, बल्कि यह संभावना ही अधिक है कि ऐसा अकेले अपने कमरे में, अपने पालने में सोते हुए शिशु के साथ घटे।

इस बात को लेकर भी लोग चिंतित होते हैं कि माता-पिता शिशु की उपस्थिति में संभोग कैसे करें। येक्वुआना लोगों में शिशु की उपस्थिति सामान्य मानी जाती है, और हमारे पूर्व सैकड़ों-हज़ारों वर्षों में भी ठीक यही स्थिति रही होगी।

यह भी संभव है कि मौजूद न होने के कारण शिशु अपने माता-पिता से जुड़ाव की

एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कड़ी से भी चूक जाता हो। इससे उसमें एक लालसा रह जाती हो, जो बाद में अपराधबोध ग्रस्त इडिपस या इलैक्ट्रा मनोग्रंथि में तब्दील हो जाती हो। यह मनोग्रंथि विपरीत लिंग के पालक से संभाग की इच्छा में तब्दील हो सकती है। जबकि पहले दरअसल उसे शिशु की निष्क्रिय भूमिका ही चाहिए थी, जो अब उसकी यौनिकता में आए बदलाव के बाद, सक्रिय लालसा में रूपान्तरित हो गई हो। इसलिए, क्योंकि यौनिकता में परिवर्तन के कारण निष्क्रिय भागीदारी की न तो स्मृति उसमें बची होती है, न ही वह उसकी कल्पना कर पाता है। संभव है कि भावी शोध यह दिखा सके कि हम इस अस्वाभाविक, असामाजिकतावादी, अपराधबोध के सशक्त स्रोत को दरअसल निरस्त कर सकते हैं।

एक व्यापक सोच यह भी है कि बच्चे पर अधिक ध्यान देना उसे स्वतंत्र बनने से रोकता है, और उसे लगातार गोद उठाना उसकी आत्मनिर्भरता को कमजोर करता है। हम यह देख ही चुके हैं कि आत्मनिर्भरता गोद के संपूर्ण अनुभव के बाद ही आती है। पर यह अनुभव ऐसा होता है जिसमें शिशु हमेशा मौजूद तो रहता है, परन्तु ध्यान का केंद्र बिरले ही बनता है। वह तो केवल वहाँ होता भर है, अपने देखभाल करने वाले व्यक्ति के जीवन के बीच, लगातार वस्तुओं को अनुभव करता हुआ सुरक्षित, बाहों में थमा हुआ। जब वह अपनी माँ के घुटने को छोड़ उसके शरीर से दूर की दुनिया में रेंगने, सरकने और चलने लगता है, तो यह सब वह बिना हस्तक्षेप (सुरक्षा) करता है। उसकी माँ की भूमिका तब उस समय उपलब्ध होने में बदल जाती है जब वह उसके पास आए या उसे पुकारे। माँ का काम शिशु की गतिविधियों को निर्देशित करना नहीं होता, न ही उन खतरों से उसे बचाने का, जिससे अगर मौका दिया जाए तो शिशु स्वयं को अपने-आप ही बचा सकता है। सातत्य के तौर-तरीकों पर पुनः लौटने में यही बात सबसे कठिन है। प्रत्येक माँ को यथासंभव अपने शिशु की आत्मरक्षा की क्षमता पर विश्वास करना पड़ेगा। कम माताएँ ही येक्वुआना लोगों की तरह अपने शिशुओं को धारदार छुरियों तथा आग से खेलने देंगी, नदी तट पर उन्हें उस किस्म की आजादी देंगी। येक्वुआना, बच्चों की आत्मरक्षा की प्रवृत्ति को बखूबी समझते हैं। इधर सभ्य माता शिशु की सुरक्षा की जितनी कम ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेगी, उतनी ही अधिक शीघ्रता से वह स्वतंत्र बनेगा। उसे यह पता होगा कि उसे कम सांत्वना और मदद चाहिए। हमें उसे ही पहल करने देनी

चाहिए। उसे उसकी माँ से दूर नहीं करना चाहिए, परन्तु माँ को उसे न्यूनतम दिशानिर्देश देने चाहिए।

ज़रूरत से अधिक सुरक्षित व इस प्रकार कमज़ोर बना दिए गए बालक की पहल पर उसकी अति-उत्साही माँ हमेशा हावी हो जाती है। यह बालक दरअसल वह नहीं होता, जिसे महत्त्वपूर्ण प्रारंभिक महीनों में तब गोदी उठाया गया था, जब उसे इसकी ज़रूरत थी।

येक्वुआना लोगों से सातत्य संबंधी पाठ जो हम सीख सकते हैं, उन्हें कुछ यों रूपान्तरित करना कठिन है ताकि वे सभ्यता की हमारी काफी भिन्न स्थिति में सुधार ला सकें। मेरा मानना है कि सातत्य से जितना संभव हो उतना करीब बने रहना अपने-आप में उपयोगी कदम है। एक बार यह संकल्प कर लेने के बाद ऐसा कर पाने के रास्ते तलाशना, मुख्यतः सामान्य सूझबूझ का ही मसला होता है।

जब माँ को यह पता लग जाए की शुरुआती छह-आठ महीने शिशु को गोदी उठाए रखने से उसके स्वावलंबन को सुनिश्चित किया जा सकता है, उसे सामाजिक बनाने की नींव डाली जा सकती है, उसे कम माँग करने वाला और मददगार बनाया जा सकता है, तो माँ का स्व-हित उसे उकसाएगा कि वह बिना कोताही किए, घरेलू काम करते समय या खरीददारी करते समय, शिशु को किसी न किसी तरह गोदी उठाए रखे।

मेरा मानना है कि अधिकतर माताएँ अपने बच्चों से सचमें प्यार करती हैं। वे उनको उन अत्यावश्यक अनुभवों से, जो उनको सुखी इन्सान बना सकते हैं, केवल इसलिए ही वंचित करती हैं, क्योंकि उन्हें पता ही नहीं होता है कि वे शिशु को तकलीफ पहुँचा रही हैं। अगर वे पालने में रोते-सुबकते शिशु की पीड़ा को, उसकी भयावह लालसा को और इस वंचना के उसके व्यक्तित्व पर होने वाले प्रभाव को समझतीं, यह जानतीं कि इस सबका उसके संभावित संतोषप्रद जीवन पर असर पड़ेगा, तो मुझ कोई शक नहीं कि वे उसे पल भर को भी अकेला न छोड़तीं।

मैं यह भी मानती हूँ कि जब कोई माँ एक बार अपने शिशु के सातत्य की सेवा करने लगे (और यों एक माता के रूप में स्वयं अपने भी सातत्य की) तो सांस्कृतिक अर्थों में उसका भ्रमित सहज बोध पुनः स्वयं को स्थापित करेगा और अपने नैसर्गिक उद्देश्यों से जुड़ सकेगा। वह अपने शिशु को नीचे रखना ही नहीं चाहेगी। जब वह रोएगा, तो

यह संकेत सीधे माँ के दिल तक पहुँचेगा, और वह बच्चों के पालन-पोषण संबंधी विभिन्न विचारधाराओं से भ्रमित नहीं होगी। अगर वह शुरुआत में सही कदम उठाए तो, मुझे निश्चित रूप से लगता है कि शीघ्र ही वह प्राचीन सहजवृत्ति उभर सकेगी। इसलिए, क्योंकि सातत्य की शक्ति बलवान है और स्वयं को बहाल करने से चूकती नहीं है। प्रकृति के अनुरूप काम करने से माँ को जिस सहीपन का अहसास होगा वह इस पुस्तक को सैद्धान्तिक विवरण से कहीं बेहतर तरीके से उसमें सातत्य को पुनर्स्थापित करने में मददगार होगा।

हम मानव प्रकृति के जिन सिद्धान्तों पर विचार कर रहे हैं उसमें हमारी जीवन शैली तथा येक्वुआना जीवन शैली में मौजूद अंतर अप्रासंगिक हैं।

कई माताओं की ऐसी नौकरियाँ हो सकती हैं, जहाँ उन्हें अपने शिशुओं को साथ लाने की अनुमति नहीं हो। परन्तु अक्सर ये नौकरियाँ चयन का विषय होती हैं। अगर माँ यह समझ ले कि शिशु के पहले वर्ष में उसकी मौजूदगी कितनी ज़रूरी है, वह बच्चे को वंचित होने से रोकने के लिए उस समय काम बंद कर सकती है। इसलिए, क्योंकि वह समझ चुकी होंगी कि यह वंचना शिशु के संपूर्ण जीवन को क्षति पहुँचा सकती है और शिशु आजीवन उस पर बोझ बन सकता है।

पर दूसरी ओर ऐसी भी स्त्रियाँ हैं जिन्हें काम करना ही पड़ता है। वे बच्चों को अकेले छोड़कर नहीं आतीं, वे किसीको उसकी देखभाल के लिए नियुक्त करती हैं, या नानी-दादी के पास उसे छोड़ती हैं, या फिर कोई दूसरी व्यवस्था करती हैं। व्यवस्था जो भी हो, देखभाल करने वाले से कहा जा सकता है कि वे शिशु को गोद में ही रखें। शाम के लिए बुलाई गई बेबी-सिटर से कहा जा सकता है कि वह सचमें शिशु के पास-साथ बैठे, टी.वी. के पास नहीं। या उन्हें कहा जा सकता है कि अगर टी.वी. देखना ज़रूरी हो तो वे टी.वी. के सामने शिशु को गोदी में लिटा कर बैठें। टीवी का शोर और प्रकाश शिशु को नुक्सान नहीं पहुँचाएगा परन्तु शिशु का अकेले होना ज़रूर उसे क्षति पहुँचाएगा।

घरेलू काम करते समय शिशु को गोदी लिए रखना अभ्यास का मामला है। बच्चे को कूल्हे पर स्थिर रखने वाले पट्टे से मदद मिलती है। झाड़-पोंछ का काम एक हाथ से किया जा सकता है। बिस्तर लगाना कुछ अधिक कठिन होता है पर जुगाडू माँ इसका

तरीका भी ढूँढ़ ही लेती है। खाना पकाने का अर्थ है स्वयं को शिशु और चूल्हे के बीच रखना, खासकर जब किसी गरम चीज़ के छिटकने-उछलने का खतरा हो। खरीददारी की समस्या एक बड़े झोले से, और उठाई जा सकने वाली मात्रा में सौदा खरीदने से निपटाई जा सकती है। यह विचार उस स्थिति में बुरा न हो अगरचे दुनिया भर की बच्चागाड़ियाँ इतनी बड़ी हों कि उसमें बच्चों के साथ-साथ सौदा भी रखा जा सके। ऐसे पीठझोले भी होते हैं जिनमें वयस्क शिशु को अपने कंधों पर लटका सकें, ताकि उनके हाथ मुक्त रहें। ऐसे झोले कई दुकानों में उपलब्ध हैं।

अगर हम बच्चों की देखभाल को एक अ-गतिविधि के रूप में देखने लगे तो भारी मदद मिल सकती है। हमें इसे कुछ करने-सा मानना ही नहीं चाहिए। नौकरी करना, खरीददारी करना, खाना पकाना, सफाई करना, पैदल घूमना और दोस्तों से गपशप करना, ये सब करने के काम हैं, जिनके लिए समय निकालना पड़ता है, जिन्हें गतिविधियों के रूप में देखा जा सकता है। शिशु (अन्य बच्चों के साथ) तो सामान्य रूप से साथ लाए जा सकते हैं। उसके लिए अलग से समय निकालने की जरूरत नहीं है, सिवाए उसके पोतड़े बदलने के लिए चंद मिनट निकालने के। उसका स्नान, माँ के नहाते समय हो सकता है। स्तनपान अन्य गतिविधियों को रोके यह भी जरूरी नहीं है। हमें जो बदलना है वह है सोचने का हमारा शिशु-केंद्रित तरीका। इस सोच को हमें एक सक्षम, बुद्धिमान इन्सान की सोच में बदलना होगा जो काम में और अन्य वयस्कों के साथ में, मज़ा पाता है।

हमारी मौजूदा जीवनशैली में मानवीय सातत्य के समक्ष अंतहीन बाधाएँ हैं। न केवल हमारे यहाँ जन्म के समय अस्पतालों में नवजात शिशु को माँ से दूर रखा जाता है, बल्कि बच्चागाड़ियों, पालनों, खेल दड़बों आदि के उपयोग भी दोनों को एक-दूसरे से दूर रखते हैं। हम नई माताओं से उम्मीद रखते हैं कि वे सामाजिक कामों के समय अपने शिशु को साथ नहीं लाएँगी। पर हमारे घर एक-दूसरे के घरों से कटे हुए हैं, अतः माताओं को वयस्कों के सोहबत से वंचित रहना, और ऊब को सहना पड़ता है। इधर बच्चों को भी अपने हमउम्र और स्वयं से बड़े बच्चों का साथ नहीं मिल पाता, सिवा कुछ खेल-समूहों या स्कूलों के। वहाँ भी उन्हें सामान्यतः उनके ही उम्र के बच्चों तक सीमित रखा जाता है। साथ ही अक्सर शिक्षक ही बच्चों को बताते हैं कि उपलब्ध खिलौने से क्या किया जाए,

बजाए ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करने के, जिनकी बच्चे स्वाभाविक रूप से नकल करें।

फिर भी ऐसे बाग-बगीचे हैं जहाँ माताएँ और बच्चे मिलें, और जहाँ उम्र के अनुसार उन्हें अलग-अलग न किया जाए। परन्तु यहाँ भी तमाम अड़चने होंगी, जो प्रत्येक माँ और बच्चे को रोकेंगी और कुछ नहीं तो हमारे अतीत द्वारा ही, उन तौर-तरीकों द्वारा जिस प्रकार माताओं की माताओं ने उन्हें पाला-पोसा था। बच्चों के पालन-पोषण संबंधी हमारी संस्कृति की ही दृढ़ धारणाएँ होंगी। रीति-रिवाजों का अनुपालन न करने का डर भी होगा, क्योंकि सातत्य भी हमसे हमारा जो समाज करे उसकी ही अनुपालना करवाता है।

एक बच्चा अपने पिता के साथ तब तक कार्यस्थल पर नहीं जा सकता, जब तक कि पिता एक किसान जैसा व्यक्ति न हो। अर्थात् बालक को अपने उदाहरण अन्यत्र तलाशने होंगे।

जिन लोगों को उदाहरण प्रस्तुत करने का काम सौंपा जाएगा वे ही हमारे समाज के कौशल प्रदर्शित करेंगे और बच्चे केवल उन्हीं का अनुसरण कर पाएँगे। अगर ये शिक्षाविद् बच्चों के साथ अपने संबंध को स्वयं के *उपलब्ध होने* पर आधारित करेंगे, तो बच्चे स्वयं को सिखाने के अपने कुशल स्वाभाविक तरीकों का उपयोग कर सकेंगे। ऐसे में शिशु लोगों और वस्तुओं की, दुनिया की घटनाओं की नकल, अवलोकन तथा अभ्यास द्वारा कर सकेंगे। यह करने की प्रेरणा उनकी सामाजिक व नकलची प्रवृत्ति ही देगी। शिक्षित करने का इससे अधिक कारगर कोई तरीका हो ही नहीं सकता है।

सातत्य के समक्ष एक और अड़चन है जो हमारी जीवनशैली से आती है। हम मानते हैं कि हम अपने बच्चों के मालिक हैं, अतः हमें यह अधिकार है कि हम जैसा चाहें वैसा बरताव उनसे करें। बस उन्हें मारें-पीटें नहीं या उनका खून न करें। शिशु के पास ऐसे कानूनी अधिकार तो हैं नहीं जो उन्हें माँ के लिए तड़पने, या उसकी अनदेखी के कारण कष्ट में चीखने से उन्हें बचा सकें। यह तथ्य कि वे भी ऐसे इन्सान हैं जो यातना महसूस करने की क्षमता रखते हैं, उन्हें वयस्कों की तरह दूसरों की क्रूरता से बचाने का कानूनी अधिकार नहीं देता। शैशव में झेली यंत्रणा उन्हें अपने शेष जीवन का आनंद भोगने के प्रति पूर्वग्रहों से भर देता है, अतः उनको भारी चोट पहुँचाता है, यह तथ्य भी उनकी कानूनी स्थिति को मज़बूत करने में उनकी कोई मदद नहीं करता।

शिशु अपनी शिकायतों को अभिव्यक्त नहीं कर पाते। वे किसी अधिकारी के

सामने जा प्रतिवाद नहीं कर सकते। वे तो अपने कष्ट को उसके कारणों तक से नहीं जोड़ पाते। वे तो अंततः अपनी माँ को अपने पास आया देख प्रसन्न ही होते हैं।

हमारे समाज में अधिकार इसलिए नहीं दिए जाते कि किसी को कोई क्षति पहुँची हो, बल्कि इसलिए क्योंकि शिकायत की जाती है। पशुओं के केवल अल्पविकसित अधिकार ही होते हैं, और वे भी कुछ ही देशों में। इसी प्रकार देशज आदिम लोग, जिनके पास शिकायत पहुँचाने का माध्यम न हो, उन्हें भी वे अधिकार नहीं मिलते हैं, जो उनके मुखर विजेता एक-दूसरे को देते हैं।

रीतियों ने बच्चों के साथ होने वाले सलूक को माता के विवेक पर छोड़ दिया है। परन्तु क्या प्रत्येक माँ को यह आज्ञादी होनी चाहिए कि वह अपने बच्चे की उपेक्षा करे, रोने पर तमाचा जड़े, जब उसका मन हो उसे खिलाए, और उसे घंटों, दिनों, महीनों तक कमरे में अकेले पीड़ा झेलने दे, जबकि शिशु की प्रकृति ही जीवन के बीच रहने की हो?

शिशुओं और बालकों पर अत्याचार की रोकथाम करने वाली संस्थाएँ केवल स्थूल दुर्व्यवहार से सरोकार रखती हैं। शिशुओं के साथ जिस आचरण को आज सामान्य माना जाता है, उसमें निहित अपराध की गंभीरता को समझने में हमारे समाज को मदद की जरूरत है।

हमारी जैसी संस्कृति, अपने लोगों की वास्तविक आवश्यकताओं का ध्यान रखे बिना ही विकसित हुई है। मानवीय सातत्य की समझ से इसे सुधारने की, हमारी त्रुटियों को कम करने की संभावना बढ़ेगी। हम रोजमर्रा की स्थितियों में छोटे-छोटे सुधार ला सकते हैं।

समाज को बदलने का इंतज़ार किए बिना हम अपने शिशुओं के प्रति उचित व्यवहार कर सकते हैं। और शिशुओं को वह पुख्ता व्यक्तिगत आधार दे सकते हैं, जिसकी मदद से वे अपने समक्ष आई परिस्थितियों से निपट सकें। उन्हें इस हद तक वंचित करने के बदले, कि बाहरी दुनिया से निबटने के वास्ते उनका केवल एक हाथ खाली हो, और दूसरा लगातार आंतरिक संघर्षों से जूझ रहा हो, हम उनके दोनों हाथ मुक्त कर सकते हैं। ताकि वे बाहरी समस्याओं से लड़ने को तैयार हों।

जब हम शिशुओं, बच्चों, एक-दूसरे, तथा स्वयं से अपने व्यवहार के नतीजों को पूरी तरह पहचान लेंगे, और अपनी प्रजाति के वास्तविक चरित्र का सम्मान करना सीख लेंगे, हम आनंद की अपनी संभावना को पाने से भी चूक नहीं सकते।

द लीडलॉफ कन्टिन्यूअम नेटवर्क  
पी.ओ.बॉक्स 1634  
साओसालिटो, सी.ए. (कैलिफोर्निया) 94966

लीडलॉफ कन्टिन्यूअम नेटवर्क उन लोगों का एक वैश्विक नेटवर्क हैं जो सातत्य की अवधारणा को अपने जीवन हिस्सा बनाना चाहते हैं। अगर आप दुनिया भर में स्थित नेटवर्क के सदस्यों के नाम जानना चाहते हैं, तो कृपया उपरोक्त पते पर लिखें। अगर आप अपना नाम सूची में शामिल न करना चाहते हैं तो कृपया यह भी स्पष्ट करें। इस नेटवर्क का एक समाचार पत्र भी है। अगर आप इस संबंध में जानकारी चाहते हैं तथा/या सूची प्राप्त करना चाहते हैं तो अपने नाम-पते सहित टिकट युक्त लिफाफा भेजें।



## बनियन ट्री के बारे में

बनियन ट्री ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन एवं वितरण करते हैं जो जड़ एवं चेतन के संबंधों को आपस में जोड़ती हैं। हमारी पुस्तकें संस्थानीकृत विश्व की पूर्व परिभाषित अवधारणाओं को चुनौती देती हैं; अपनी परंपरागत एवं सांस्कृतिक जड़ों की ताकत की समझ को उसी प्रकार सुद्रढ़, करती हैं जैसे कि बरगद की जड़ें।

यहाँ आपको ऐसी पुस्तकें मिलेंगी जो ज्ञान, संस्कृति व परंपरा के संस्थानीकरण को चुनौती देती हैं; पुस्तकें जो भोजन, स्वास्थ्य एवं कृषि के नियंत्रण और मिलावट को चुनौती देती हैं; सीखने, स्कूलविहीन शिक्षा तथा, परिवेष के टिकाऊ विकास पर पुस्तकें। हमारा यह अटल विश्वास है कि “कुछ भी पढ़ाया नहीं जा सकता” तथा “काम ही गुरु है”। यहाँ आप अंग्रेजी, हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं में पुस्तकें खरीद सकते हैं।

हम उन व्यक्तियों की भी सहायता करते हैं, जो वैकल्पिक मीडिया, सामुदायिक ज्ञान एवं टिकाऊ विकास के क्षेत्र में अपना रास्ता स्वयं तलाशना चाहते हैं। जिन्हें रुचि हो वे हमें लिख सकते हैं।

### बनियन ट्री

1— बी, धेनुमार्केट, दूसरा माला

इंदौर — 452003, इण्डिया

टेली : 91-731-2531488, 2532243

मोबाइल : 9425904428

emai: [banyantreebookstore@gmail.com](mailto:banyantreebookstore@gmail.com)

website: [www.banyantreebookstore.com](http://www.banyantreebookstore.com)

में नहीं जानता कि क्या दुनिया को एक पुस्तक से बचाया जा सकता है, परन्तु यदि ऐसा ही सकता तो  
वी पुस्तक सिर्फ यही ही सकती है।

जॉन हॉल्ट

जीन लीडलॉफ ने दक्षिण अमेरिका के घने जंगलों में पाषाण युगीन इंडियनों — सनेमा और येक्वुआना लोगों के साथ करीब  
ढाई वर्ष बिताये। यहाँ उसे हुए अनुभवों ने उसकी उस पश्चिमी अवधारणा को ध्वस्त कर दिया कि हमें कैसे रहना चाहिये और  
उसकी एक अलग धारणा बनी कि मनुष्य का स्वभाव आखिर है क्या ? “हम अपनी पश्चिमी सभ्यता में खूद के स्वभाव को  
समझ नहीं ही पाए हैं?” अपनी अवधारणा की पुष्टि के लिए वह पाँचवी बार फिर से गई और “द कन्टिन्युअम कान्सेप्ट”  
लिखी। उसका मानना है कि यह बात तार्किक क्षेत्र में आती ही नहीं कि शिशु के साथ कैसा बरताव किया जाए। शिशु पालन  
पर अपने समय की एक सर्वश्रेष्ठ पुस्तक।

इसी पुस्तक से...

“...इसमें जितनी भी स्त्रियों या बच्चों ने भागीदारी क्यों न की हो इस स्नान में विलासित का रोमन गुण मौजूद था। उनका प्रत्येक  
कृत्य ऐंद्रिक आनंद का बयान करता था और बच्चों को ऐसी अद्भुत वस्तुओं की तरह स्पर्श किया गया जिनके मालिक अपने सुख  
और गर्व को छिपा ही न पा रहे हों।”

“...अच्छू ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया कि मुझे तेज चलना चाहिए, या अगर मैं आरामदायक गति से चलूँगी तो मेरी प्रतिष्ठा  
आहत होगी, कि मेरे कार्य प्रदर्शन से मुझे आँका जा रहा है या रास्ते में लगने वाला समय पहुँचने के बाद के समय से कम वांछनीय  
है।”

“सातत्य की अवधारणा” एक ऐसी पुस्तक है जो लोगों की जिन्दगी को बदल  
सकती है और वाकई बदल रही है। इसे जरूर पढ़ना चाहिये।

शिल्पा-हरि, बैंगलोर, सातत्य पालक

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि हम अपने सहजबोध से इतना दूर हो गए हैं कि अब हम इन्सानों को इन्सान  
जैसा व्यवहार करना भी एक पुस्तक से सिखना पड़ रहा है। पर अगर कोई पुस्तक है जो ऐसा  
कर सकती है तो निश्चित ही वह सातत्य की अवधारणा है।  
योरित-अविराम, ओरोविल, सातत्य पालक

**जीन लिडलॉफ** न्यूयार्क में जन्मी और पली बड़ी थी। अपनी स्नातक शिक्षा के बाद वह कर्नेल युनिवर्सिटी गई लेकिन बिना कोई  
डिग्री लिए ही उसने अपनी यात्राएँ शुरू कर दी — पहले वह यूरोप को लेकर आकर्षित हुईं और फिर दक्षिण अमरीकी जंगलों में। उनकी  
यह पुस्तक का करीब पन्द्रह से अधिक भाषाओं में छप चुकी है और शीघ्र ही बनियन ट्री द्वारा कई अन्य भारतीय भाषाओं में उपलब्ध कराई  
जाएगी।

इस पुस्तक को प्राप्त करने के लिए संपर्क करें

**बनियन ट्री**

1-बी, धेनुमार्केट, दूसरा माला

इंदौर - 452003, इण्डिया

टेली : 91-731-2531488, 2532243

मोबाइल : 91-9425904428

email: banyantreebookstore@gmail.com

website: www.banyantreebookstore.com

BANYAN  
TREE

₹

200

ISBN 978-81-920957-6-9



9 788192 009576 9